दलित आत्माभिव्यक्ति और 'जूठन'

(एम० फिल० उपाधि हेतु लघु शोध प्रबन्ध)

शोध निदेशक

प्रो० मैनेजर पाण्डेय

शोधकर्ता

राजेश कुमार पासवान

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली- 110067

1999

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
School of Language, Literature, & Culture Studies
NEW DELHI-110067. INDIA

Centre of Indian Languages

Dated:16.07.99

DECLARATION

I declare that the material in this dissertation entitled **"DALIT AATMABHIVYAKTI AUR 'ZOOTHAN'"** submitted by me is original research work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other University/Institution.

Rajesh Kr. Paswan

(Rajesh Kumar Paswan)
Name of the Scholar

Prof. Naseer Ahmad Khan
Chairperson
CIL/SLL&CS JNU.

Prof. Manager Pandey
Supervisor
CIL/SLL&CS JNU

GRAM : JAYENU; TEL. : (91-011) 6107676, 6167557 Extn. 2217, Fax : (91-011) 6165886, 6106025

समर्पण

'माई'

और

'बाबूजी'

को सादर ...

दलित आत्माभिव्यक्ति

और

'जूठन'

अनुक्रम

विषय		*पृ० सं०*
अपनी बात	:	(i-vi)
पहला अध्याय : दलित आत्माभिव्यक्ति और आत्मकथाओं की जरूरत		1-24
• *आत्माभिव्यक्ति का स्वरूप*		
• *दलित आत्माभिव्यक्ति की जरूरत*		
• *दलित आत्मकथाओं की जरूरत*		
दूसरा *अध्याय* : दलित आत्मकथाओं का वैशिष्टय		25-67
• *विवेच्य आत्मकथाओं का सामान्य परिचय*		
• *वैशिष्टय*		
हाशिए की अभिव्यक्ति, दलित समाज की भी कथा, उद्देश्य यशोवृद्धि नहीं, साहित्य की श्रेणियाँ एवं विभागों की समाप्ति, बहु आयामी संघर्षों के दस्तावेज, भारतीय गाँवों की सही तस्वीर की प्रस्तुति, दलित सौन्दर्य शास्त्र के निर्माण में सहायक।		
तीसरा अध्याय : 'जूठन' यथार्थ बोध, संवेदना और शिल्प		68-91
• *यथार्थ बोध*		
• *संवेदना और शिल्प*		
• कुछ अन्तर्विरोध		
चौथा अध्याय : 'जूठन' बहस जारी है।		92-104
परिशिष्ट : शोधकर्ता की आत्मकथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि से बातचीत।		105-114
संदर्भ :		

अपनी बात

बात उन दिनों की है, जब मैं एम० फिल कर रहा था। इसके लिए उस विषय के प्रारूप की भी प्रस्तुति करनी होती है, जिस पर आगे शोधकार्य करना होता है। उसके लिए कई विषय मेरे जेहन में थे। हाल ही में 'जूठन' भी प्रकाशित हुई थी, जिस पर काम करने की इच्छा थी। लेकिन विषय पूरी तरह निश्चित नहीं कर पाया था। उस दरम्यान मैं अपने एक बहुत ही प्रिय अध्यापक के पास शोध हेतु विषय निश्चित करने के लिए गया। उनसे बातचीत के क्रम में मैंने 'जूठन' पर काम करने के सम्बन्ध में भी इच्छा व्यक्त की। विषय सुनकर वे बहुत खुश हुए और बोले– "हाँ भई! आजकल जिसे देखो वही आत्मकथा ही लिख रहा है। सामान्यतः आत्मकथा जिन्दगी में एक निश्चित मुकाम प्राप्त कर लेने के बाद लिखी जाती है, लेकिन दलित साहित्यकार जिन्हें अभी लंबी दूरियाँ तय करनी है– वे अभी से आत्मकथा लिखने में लग गए है। दलित साहित्यकारों से अभी न केवल कविता–कहानियों के क्षेत्र में बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक अन्य क्षेत्रों में भी वृहतर लेखन की अपेक्षाएं है, अतः थोड़ी सी उपलब्धियाँ प्राप्त करने के बाद ही अभी से इन साहित्यकारों द्वारा आत्मकथा लिखना कुछ ठीक नहीं लगता इसलिए इसकी पड़ताल की जानी चाहिए?

वाकई उनकी चिन्ता वाजिब थी! दलित आत्मकथाओं पर चर्चा के प्रसंग में विभिन्न मंचों से भी प्रायः ऐसी बातें सुनने को मिलती रहती थी।

अभिन्न मित्रों की बातचीत में भी यह बहस का मुद्दा रहता था कि इन आत्मकथाओं के जरूरत, उनके वैशिष्टय आदि की पड़ताल की जानी चाहिए।

इन सब प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए मैंने निश्चय किया कि उक्त

दृष्टि से दलित आत्मकथाओं की पड़ताल की जाय। इसलिए मैंने सधप्रकाशित ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' को केन्द्र में रखकर अब तक हिन्दी में प्रकाशित एवं अनुदित दलित आत्मकथाओं की जरूरत, उनके वैशिष्टय आदि की पड़ताल करने का निश्चय किया। दिलचस्प है कि जैसे–जैसे मैं इन प्रश्नों की कसौटी पर इन आत्मकथाओं को कसता गया, नई–नई अर्थछवियाँ भी उद्घाटित होती गई। यह स्पष्ट होता गया कि दलित आत्मकथाएँ सिर्फ एक विद्या मात्र नहीं है बल्कि दलित साहित्य एवं दलित समाज की ऐतिहासिक सांस्कृतिक जरूरत को भी पूरा करती है। इन सबका सविस्तार विवेचन हमने पहले अध्याय में किया है।

दूसरे अध्याय में हमने दलित आत्मकथाओं के वैशिष्टय पर विचार किया है। इसमें हमने इस बात की पड़ताल की है कि क्या एक दलित व्यक्ति द्वारा लिखी जाने के कारण ही इन्हें दलित आत्मकथा कहा जाय या कुछ और भी कारण है? इसके अतिरिक्त, मराठी एवं हिन्दी की कुछ आत्मकथाओं को केन्द्र में रखकर मैंने उन प्रवृत्तियों को भी रेखांकित करने का प्रयास किया है जो प्रायः सबमें पाई जाती है। साथ ही मैंने इन आत्मकथाओं के सन्दर्भ में कुछ आलोचकों की आपत्तियों की पड़ताल के साथ–साथ इनकी सीमाओं एवं संभावनाओं पर भी विचार किया है।

तीसरे अध्याय में हमने विवेच्य आत्मकथा 'जूठन' के यथार्थबोध, उसकी संवेदना एवं शिल्प पर विचार किया है। इमसें हमने लेखक के अनुभवों, उसके जीवन प्रसंगों की व्याख्या न करके उन जीवन प्रसंगों के प्रति लेखक के दृष्टिकोण की पड़ताल की है। साथ ही, 'जूठन' की संवेदना एवं शिल्पगत विशेषताओं के साथ–साथ उसकी सीमाओं पर भी विचार किया है।

'जूठन' को प्रकाशित हुए अभी दो साल ही हुए है। उस पर बहस की अभी काफी संभावनाएं है। अतः हमने चौथे अध्याय 'जूठन' बहस जारी है, में उन समीक्षाओं की पड़ताल की है, जिसकी आलोचनात्मक टिप्पणियों से हम असहमत है। यद्यपि अब तक 'जूठन' की कई अच्छी समीक्षाएँ आई हैं। जे. एन. यू. के ही शोधार्थी रामचंद्र की समीक्षा "वर्ण–व्यवस्था के संत्रास और शिक्षा तंत्र की नग्नता को उकेरती है 'जूठन' – भारत अश्वघोष के अंक नवम्बर–दिसम्बर 1997 में प्रकाशित हुई है। बजरंग बिहारी तिवारी की समीक्षा 'कागद की लेखी का अंतर' 'हंस' के अर्द्धशती विशेषांक खंड–2 (अक्टूबर 1997) में प्रकाशित हुई है। जनवादी लेखक संघ की दिल्ली ईकाई द्वारा 'जूठन' पर संगोष्ठी भी कराई गई थी। जिसमें डॉ० श्यौराजसिंह बेचैन, डॉ० जबरी मल्ल पारख आदि ने आलेख पाठ किया था। इसके अतिरिक्त भी कई पत्र–पत्रिकाओं में 'जूठन' की समीक्षाएं प्रकाशित हुई हैं। इन सभी समीक्षाओं की संवेदना से हम बहुत हद तक सहमत है, इसलिए विस्तार दोष से बचने के लिए हमने इन पर अलग से विचार करना, उनकी पुनरावृत्ति करना जरूरी नहीं समझा। हमने इस अध्याय में सिर्फ उन्हीं टिप्पणियों पर विचार किया है जिससे हम असहमत है?

इस लघु शोध प्रबन्ध में हमने दलित एवं 'दलित साहित्य' को अलग से परिभाषित नहीं किया है, क्योंकि, यह लगभग सर्वमान्य है कि भारतीय संविधान में चिन्हित अनु० जातियाँ एवं जनजातियाँ ही दलित है एवं इनके द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य। साथ ही यह भी सर्वमान्य है कि दलित आत्मकथा सिर्फ दलित ही लिख सकता है। इसलिए हमने इस पर अलग से विचार करने की जरूरत नहीं समझी।

यह अवश्य है कि इस लघु शोधप्रबन्ध में हमने 'ब्राह्मणवाद' को नए रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है। हमने 'ब्राह्मणवाद' को सिर्फ सांस्कृतिक आधारों वाले दर्शन के रूप में नहीं समझा है, बल्कि 'ब्राह्मणवाद' से हमारा आशय भौतिक संसाधनों पर कुछ खास वर्गों के एकाधिकार से है। शिक्षा, शस्त्र, सम्पत्ति आदि भौतिक संसाधनों पर कुछ खास वर्णों/जातियों के एकाधिकार को हमने ब्राह्मणवाद के रूप में परिभाषित किया है। यही ब्राह्मणवाद का वह भौतिक आधार है जिसकी बदौलत यह व्यवस्था आज तक कायम है। इस पर चोट करना एवं इस एकाधिकार को समाप्त करना ही हमारी समझ से दलित चेतना का अभीष्ट है।

इस लघु शोध प्रबन्ध को लिखते समय मुझे हमेशा दलित मुक्ति के आंदोलन से जुड़ने का अहसास होता रहा है। ऐसा लगता रहा है कि मैं अपने दलित समाज के लिए कुछ कर रहा हूँ। मेरा यह लघु प्रयास कितना सार्थक बन पाया है? दलित मुक्ति के आंदोलन से कितना जुड़ पाया है? इसका निर्धारण मैं नहीं कर सकता। फिर भी, इतना अवश्य है कि इन दलित आत्मकथाओं से गुजरते हुए जो टीस, वेदना मैंने महसूस की है, मुझमें जो दलित चेतना विकसित हुई है, वह आसानी से मिटने वाली नहीं।

गुरूवर प्रो० मैनेजर पाण्डेय ने न केवल अपने कुशल निर्देशन में इस शोधकार्य को पूरा करवाया है बल्कि उनके लेखन एंव व्यक्तिगत दिशा–निर्देशन ने मुझमें दलित साहित्य को समझने एंव परखने की दृष्टि भी विकसित की है। इनके अतिरिक्त डॉ० गोबिन्द प्रसाद ने अपनी व्यस्तताओं के बावजूद बराबर मेरी जिज्ञासा को बढ़ाने में मदद की है। उनकी आत्मीयता एवं स्नेह ने, अध्यापक एवं छात्र के बीच की अतिरिक्त औपचारिकताओं को समाप्त कर

मुझमें आत्मविश्वास बढ़ाने का भी काम किया है। बड़े भाई चन्द्रभान प्रसाद, डॉ० श्यौराजसिंह बेचैन, डॉ० धर्मवीर, डॉ० सुरेश कुमार मिश्रा, आदि ने न केवल मेरी दलित चेतना को परिष्कृत, परिमार्जित एवं समृद्ध करने में मदद की है, बल्कि मेरे सोच–विचार, चिंतन को तराशने एवं नई दृष्टि प्रदान करने में भी सहयोग किया है। इन सब लोगों का आभार प्रकट करना मुझे उचित नहीं लगता क्योंकि अभी इनसे सीखने की प्रक्रिया समाप्त नहीं हुई है। मुझे अभी इनसे बहुत कुछ सीखना है। आभार प्रकट करके इस प्रक्रिया को मैं समाप्त करना नहीं चाहता।

शोध कार्य को एक मज़बूत आधार प्रदान करने में 'गौतम बुक सैन्टर' के सुल्तान सिंह गौतम ने जो मदद की है, उसे कभी भी भूलाया नहीं जा सकता। यह दुर्भाग्य ही है कि अभी तक हमारे पुस्तकालयों में दलित साहित्य से सम्बन्धित पुस्तकों का अभाव है। ऐसी स्थिति में सुल्तान सिंह जी का घर, दलित साहित्य का एक तीर्थ ही है। दलित साहित्य के प्रचार प्रसार में सुल्तान सिंह के महत्वपूर्ण योगदान से मैं ही नहीं, दलित विषयों पर काम करने वाला हर शोधार्थी कृतार्थ हुआ है।

मेरे मित्र जहाँ शोधकार्य में मेरी मदद के लिए धन्यवाद के पात्र है, वही अपराधी भी है। दिनेश, रमेश, अंजय, वैभव, संतोष, नीरज, दीनानाथ, उमाकांत, कमलेश, राजीव, हिमांशु, मीनू, समीना, शिवानी, मेनका, तरन्नूम, एल्वी, शेली, प्रन्या, सुचिता आदि मित्रों ने जहाँ प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से मेरे शोधकार्य में मदद किया है, वहीं अपनी आत्मीयता एवं अपनत्व से मेरे 'होम सिकनेस' को लगभग समाप्त कर दिया है, जिसके कारण मैं अपने घरवालों की नज़र में दोषी हूँ। घरवालों के प्रति मेरे इस अपराध में मेरे मित्र भी साझीदार है।

वरिष्ठ साथी, भगवान जी, रामचन्द्र जी, बजरंग जी, मनोज जी, मधुप जी, संजय जी, अभय जी आदि ने प्रत्यक्षतः मेरे शोध कार्य में सहयोग दे कर न केवल मुझे अनुगृहित किया है, बल्कि 'जे० एन० यू० कल्चर' को भी समृद्ध किया है।

सौभाग्य या दुर्भाग्य से वरिष्ठ साथी बनीं मिनेष शर्मा 'मीनू' ने दलित संवेदना से सम्बन्धित अपनी विभिन्न शंकाओं से मुझे भागीदार बनाकर जहाँ मेरी दलित चेतना को प्रतिरोधी स्वरूप प्रदान किया है, वहीं मेरी दृष्टि एवं जिद को भी तराशने का काम किया हैं। यद्यपि वे अधिकांशतः सहमत भी हुई है, फिर भी उनसे निरंतर प्रश्नाकुल बनी रहने की अपेक्षा हैं।

माँ, पिताजी का स्नेह, छोटे भाई अतुल एवं रंजीत के साथ–साथ परिवार के अन्य सदस्यों की अपेक्षाएं सदा मेरे साथ रही। झून्ना की शैतानी, नेहा की शराफत, विभा का भोंदापन, निधि की जिद, उदय की शरारत, पूनम की चिल्लाहट से मैं इस दरम्यान वंचित रहा, यह मेरा दुर्भाग्य है। ललिता की शिकायतें, 'आपस की बात' है, अतः उसे शब्द–बद्ध करना ठीक नहीं।

अंत में मेरे अस्पष्ट लेखन को जया ने अपनी मेहनत से टंकित कर जो सौन्दर्य प्रदान किया है, उसके लिए अभी आभार व्यक्त करना ही काफी नहीं है। इस लघु शोध प्रबन्ध से गुजरते हुए उसे बराबर महसूस किया जा सकता है।

पहला अध्याय

दलित आत्माभिव्यक्ति और आत्मकथाओं की जरूरत

- *आत्माभिव्यक्ति का स्वरूप।*
- *दलित आत्माभिव्यक्ति की जरूरत।*
- *दलित आत्मकथाओं की जरूरत।*

आत्माभिव्यक्ति का स्वरूप

मनुष्य एक संवेदनशील सामाजिक प्राणी है। वह जिस समाज या परिवेश में रहता है, उसके अनुभवों को एक –दूसरे के साथ बाँटना भी चाहता है। उसकी सामाजिक व्यवस्था कैसी है? उस व्यवस्था का उसके प्रति रवैया क्या है?उस व्यवस्था में उसकी जगह कहाँ है? इन सब प्रश्नों के प्रति वह अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करना चाहता है, क्योंकि, यह सब उसकी संवेदनशीलता की न्यूनतम कसौटी तो है ही, उसकी मनुष्यता की भी पहली शर्त है।

कुछ अर्थों में, मनुष्य का सम्पूर्ण सर्जनात्मक कार्य–व्यापार, साहित्य एवं संस्कृति के विभिन्न रूप–दर्शन, विज्ञान, कला, संगीत इत्यादि– उसकी सामाजिक एवं परिवेशगत प्रतिक्रिया का पर्याय लगते है। ऐसा लगता है, प्रकृति–प्रदत्त वस्तुओं को छोड़कर मानव निर्मित सभी वस्तुएं मनुष्य की इसी प्रतिक्रिया का परिणाम है। मनुष्य ने अपने परिवेशगत जरूरतों के मद्देनज़र इन सबका निर्माण किया है।

साहित्य भी मनुष्य की परिवेशगत जरूरतों का सर्जनात्मक परिणाम प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में साहित्य, अतीत की स्मृतियों, वर्तमान की जरूरतों एवं भविष्य की संभावनाओं के मद्देनजर मनुष्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्तियों का परिणाम है।

आशय यह है कि अभिव्यक्ति मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति ही अनुकूल स्थितियाँ पाकर साहित्य एवं संस्कृति के विभिन्न रूपों का निर्माण करती है। साहित्य एवं संस्कृति के वे विभिन्न रूप

न केवल अपने समय और समाज के लिए प्रासंगिक होते है, बल्कि परवर्ती सभ्यता एवं संस्कृतियों के लिए कई बेहतर संभावनाएँ भी संजोए रखते हैं। जिनका सार्थक या निरर्थक उपयोग परवर्ती संततियाँ करती है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप सर्जक की आत्माभिव्यक्ति के भी पर्याय हैं?

ऐसा लगता है कि अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों – विशेषकर साहित्य के प्रसंग में-घोषित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सर्जक ने स्वयं को अलग रखा है। रचना अंततः मनुष्य ही करता है और मनुष्य को संचालित करता है उसका व्यक्तित्व। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण को, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जो कारक प्रभावित करते हैं उनसे अपवाद स्वरूप ही वह मुक्त हो पाता है। व्यक्ति के संस्कार, उसका परिवेश, उसका वैचारिक आग्रह, उसका वर्णीय या वर्गीय दृष्टिकोण, उसकी अभिरूचियाँ आदि कारक उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। ये कारक चेतन या अवचेतन रूप से उसके रचनाकर्म को भी प्रभावित करते है। इसी संदर्भ में 'युद्धरत आम आदमी' की संपादक रमणिका गुप्ता ने एक प्रश्न कि – जब लेखक लिखता है तो वह केवल लेखक होता है स्त्री–पुरुष, हिन्दू–मुसलमान, समाज परिवार नहीं– के जबाव में लिखा है कि – "मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बताता है कि मनुष्य अपने परिवेश से प्रभावित होता है। उसके व्यक्तित्व के विकास का जिम्मेवार उसकी परिस्थितियाँ होती है, उसकी पैदाइशी जीन्स नही। भेड़िये की मांद में रखा बच्चा भेड़िये जैसा आचरण करने लगता हैं तो लेखक क्या अपने परिवेश से अलग हो सकता है? हाँ, उसकी सोचने की शक्ति तीव्र होती है, उसमें कल्पना का पुट अधिक होता है। वह निष्कर्ष निकाल सकता है। भविष्य की

रूप–रेखा बना सकता है, वह अतीत को भी याद रखता है और वर्तमान को समृद्ध करता है। वह लिखते समय लेखक जरूर होता है पर वह पुरुष, महिला, अमीर–गरीब, हिन्दू–मुसलमान यानि जो भी वह है वह भी जरूर रहता है। वह अपने पात्रों के साथ अपने व्यक्तित्व का समीकरण करते चलता है। अपने परिवेश अपनी कल्पना से उन्हें गढ़ता है और कल्पना के डैने उसके परिवेश और उसके यथार्थ के आयाम के अनुरूप फैलते हैं। वह जैसे रह रहा है या जैसे रहने का सपना पालता है दोनों स्थितियाँ ही उसके अर्न्तमन में छायी रहती है। लेखक उससे अछूता नही रह सकता।"1 इसीलिए किसी रचना में व्यक्त विचारों की जिम्मेवारी लेखक की होती है। शायद यही वजह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर हमें एक लम्बे समय तक साहित्य में दलितों, स्त्रियों की सम्मानजनक उपस्थिति या उनके प्रति मानवीय सहानुभूति का अभाव दिखता है। क्योंकि रचनाकर्म में इनकी भागीदारी नहीं थी। जिस वर्ग या वर्ण के पास बौद्धिक एवं सांस्कृतिक चेतना की उसके पास या तो बौद्धिक नैतिकता या बौद्धिक ईमानदारी नहीं थी या उसके स्वयं के वर्गीय/वर्णीय वर्चस्व के खंडित होने का खतरा था।

प्रत्येक लेखक या विचारक, अपनी पसन्द अपनी अभिरूचियों के अनुसार कोई रचना करता है। अपनी रचना में वह अन्य बातों के अलावा स्वयं के हित–अहित के बारे में भी सचेत रहता हैं। कौन से विचार या वैचारिक आग्रह, उसके स्वयं के, उसके वर्ग या वर्ण के अस्तित्व के लिए, वर्चस्व बनाए रखने के लिए उपयोगी या अनुपयोगी हो सकते हैं? इसका वह हमेशा ध्यान रखता है? उससे संवेदित एवं संचालित होता है। यही वजह है कि ब्राह्मणवाद

एवं अस्पृश्यता का विरोध कभी भी हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा, का विषय नही बन सका। हिन्दी साहित्य के इतिहास में हमें एक भी ऐसा गैर दलित रचनाकार नहीं मिलता जो मुख्यतः ब्राह्मणवाद विरोध एवं जातिभेद के खिलाफ लिखने के लिए जाना जाता हो। आनुषंगिक रूप से दलित जीवन पर लिखने वाले कुछ रचनाकार अवश्य हैं, लेकिन उनकी पहचान भी मुख्यतः दलित चेतना के रचनाकार के रूप में नहीं है। वे रचनाकार दलित समस्याओं से अलग, अन्य संवेदनाओं के पारखी माने जाते हैं।

इन स्थितियों के मद्देनजर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि साहित्य मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति का पर्याय है। मनुष्य अपने वर्गीय/वर्णीय दृष्टिकोण एवं स्थितियों के संदर्भ में इसका निर्माण करता है। परन्तु ऐसा नहीं है कि जिस समाज या समुदाय के पास साहित्य नहीं है, या साहित्य के क्षेत्र में सर्जनात्मक भागीदारी नहीं है, उसका कोई अस्तित्व, अस्मिता या संस्कृति भी नहीं है। उसके अपने साहित्य के न रहते हुए भी ये सब उसके पास रहते है।

लेकिन जब उसका समाज व्यापक सांस्कृतिक संक्रमण के दौर से गुजर रहा होता है तब उसके लिए उसके अपने साहित्य की जरूरत महसूस होती है। साहित्य उसकी संस्कृति एवं अस्मिता को स्थायित्व प्रदान करता है। उसके अस्तित्व को बचाएं रखता है। उसके स्वयं के होने के अहसास को जिन्दा रखता है। इसलिए हर वर्ग या समाज को उसकी अपनी आत्माभिव्यक्ति, उसके अपने साहित्य की जरूरत महसूस होती है।

दलित आत्माभिव्यक्ति की जरूरत

समकालीन, दलित साहित्य में जो कुछ भी लिखा जा रहा है, उनमें स्वानुभूति पर बहुत अधिक जोर है। दलित लेखक गैर दलित लेखकों की दलित विषयक रचनाओं से अपनी रचनाओं को इस तर्क से अलग करते हैं कि चूँकि गैर दलित लेखकों ने दलित जीवन को भोगा नही है, दलित जीवन की समस्याओं, कष्टों आदि से उनका दूर–दूर का परिचय रहा है, इसलिए वे केवल सहानुभूति पूर्वक ही दलित जीवन पर लिख सकते है। स्वयं अनुभव करके नहीं। दलित लेखकों ने दलित जीवन की मानवकृत विडम्बनाओं को भोगा है। उसका अनुभव ही उनकी सर्जनात्मकता की ताकत है। उनके दलित जीवन के अनुभवों की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है। इस तरह, दलित साहित्य चाहे वह किसी भी विद्या में लिखा गया हो– न केवल दलित लेखक की बल्कि दलित समाज की भी आत्माभिव्यक्ति हैं। इसकी पुष्टि के लिए दलित साहित्य की किसी भी विद्या में लिखे साहित्य को देखा जा सकता है। वह हीराडोम की कविता "अछूत की शिकायत" हो या जयप्रकाश कर्दम का उपन्यास 'छप्पर' ओमप्रकाश वाल्मीकि की कोई कहानी हो या किसी दलित लेखक का दलित विषयक निबन्ध। सबमें दलित जीवन एवं उसकी समस्याओं की झलक, दलित दृष्टिकोण के साथ मिल सकती है। इस तरह दलित साहित्य, दलित आत्माभिव्यक्ति भी है।

आज के इस प्रचण्ड उपभोक्तावादी युग में– जब साहित्य एवं संस्कृति के विभिन्न रूप अपनी प्रासंगिकता खोते जा रहे हैं, विज्ञान एवं बाजार के पीछे

भागता मनुष्य साहित्य को अपने लिए गैर जरूरी समझने लगा है तब– दलित आत्माभिव्यक्ति की जरूरत के सवाल पर विचार करना कुछ हद तक गैर जरूरी लग सकता है। लेकिन इससे सवाल की प्रासंगिकता कम नहीं होती। प्रश्न बने रहते हैं, कि कहीं साहित्य की जरूरत, उसकी प्रासंगिकता कम होने की वजह साहित्य में ही तो निहित नहीं है? 'विचार का अंत' या 'इतिहास का अंत' जैसी अवधारणाओं के पीछे वे 'विचार' या 'इतिहास' तो जिम्मेवार नहीं है? या इसके लिए वैचारिक या साहित्यिक विमर्श में कुछ खास वर्गों की इजारेदारी तो नहीं है? यदि इन परिस्थितियों के बीज पूर्ववर्ती साहित्य में मौजूद हैं तब वर्तमान साहित्य विशेषकर दलित साहित्य की इनसे जूझने के लिए क्या भूमिका हो सकती है? क्या दलित साहित्य जो परिवर्तन का साहित्य होने की घोषणा करता है– इनमें परिवर्तन ला सकता है?

दलित आत्माभिव्यक्ति की जरूरत के प्रसंग में इन प्रश्नों पर विचार करना जरूरी हो जाता है।

जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है कि पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य या हिन्दी साहित्य में दलितों की सम्मानजनक उपस्थिति, उनकी वेदना, अपमान और संत्रास की अभिव्यक्ति लगभग नगण्य है। अगर कहीं–कहीं थोड़ा–बहुत उल्लेख भी हैं तो वैसे ही जैसे कि आजकल के समाचार पत्रों में होता है। समाचार पत्रों में दलितों पर हो रहे विभिन्न अत्याचारों की खबर तो प्रमुखता से छपती है, लेकिन उन अत्याचारों के प्रतिरोध के लिए दलितों में विकसित चेतना की खबर शायद ही छपती हैं। पूर्ववर्ती साहित्य में भी दलितों की

दयनीय अवस्था का वर्णन तो है, लेकिन इस अवस्था से उबरने की कसमसाहट या उसके प्रति उनका दृष्टिकोण लगभग अनुपस्थित है।

इसके एक तो इस बात का पता नही चलता कि दलितों में अपने शोषण के प्रति प्रतिरोध की, दासता की बेड़ियों को तोड़ने की तड़प या बेचैनी की भावना है या नहीं। दूसरे सामूहिक प्रतिरोध की चेतना को भी धक्का लगता है। पूर्ववर्ती मुख्य धारा के साहित्य ने अब तक यही काम किया है। इसलिए डॉ. धर्मवीर यह आशंका व्यक्त करते हैं कि "दलित चिंतन की दृष्टि से कोई युग इतना खाली नहीं जा सकता जितना इसका युग खाली दिखाया जाता है।"[2] डॉ0 धर्मवीर इस बात की तरफ संकेत करते हैं कि चूंकि दलितों के शोषण की परंपरा बहुत पुरानी हैं, इसलिए ऐसा अवश्य संभव होगा कि उन्होंने अपनी दासता से मुक्ति के लिए संघर्ष किया हो। वर्णाश्रम व्यवस्था एवं जातिभेद को समाप्त करने की मुहिम छेड़ी हो। परन्तु दलितों द्वारा अभिव्यक्ति के अवसर न मिलने की वजह से दलित चिंतन एवं दलित संघर्ष का इतिहास खाली–खाली सा दिखता है। अब जबकि उन्हें अवसर मिला है तब वे अपने दुःख वेदना, संत्रास आदि को तो व्यक्त कर ही रहे हैं, साथ ही इनके कारणों की पहचान एवं उनसे मुक्ति के लिए हुए प्रयासों की भी अभिव्यक्ति कर रहे हैं। यह दलित–संघर्ष की ऐतिहासिक प्रक्रिया का एक स्वरूप है।

मार्क्स ने अपने भारत सम्बन्धी एक लेख में लिखा है कि – "भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं है। जिसे हम इतिहास कहते हैं वह एक के बाद एक विदेशी आक्रमणकारियों के हमलों के विवरण है जिन्होंने उसे प्रतिरोध न करने वाले और अपरिवर्तनशील समाज के निष्क्रिय आधार पर अपने साम्राज्य

स्थापित किये।"[3] मार्क्स के इस उद्धरण में भारतीय समाज की दो प्रमुख प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया गया है। एक तो 'प्रतिरोध न करने की प्रवृत्ति दूसरे 'समाज की अपरिवर्तनशीलता'। भारतीयों द्वारा प्रतिरोध न करने की प्रवृत्ति पर विचार करते समय 'जाति–व्यवस्था' की उत्पत्ति के तर्क को देखना जरूरी है। इस व्यवस्था का तर्क यह है कि – "आर्यों ने जाति प्रथा का आश्रय इसलिए लिया कि उन्हें इस देश के अनेक वर्गों और लोगों को एक ही समाज के अंदर, अपनी–अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुसार, उचित स्थानों पर बिठाना था।"4 जाति–व्यवस्था के इस तर्क को कमोवेश आज भी 'आरक्षण एवं योग्यता' के बहाने दुहराया जाता है। मौजूदा समय में राष्ट्रपति बनाम न्यायपालिका के आरक्षण और योग्यता सम्बन्धी विवाद को देखा जा सकता है। अगर इस तर्क को मान लिया जाय तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि परंपरागत रूप से जो सत्ता संपत्ति एवं समाज के मालिक रहे है, जिन पर इस देश की सुरक्षा की जिम्मेदारी थी उसके वे कतई योग्य नहीं थे। क्योंकि उन्होंने अपने कर्त्तव्य का कतई निर्वाह नहीं किया। इतिहास गवाह है कि अधिकांश राजे–महाराजे विलासिता एवं ऐशो–आराम की जिन्दगी जीते रहे और विदेशी आक्रमणकारी अपने थोड़े से सैनिकों के साथ ही आकर इन्हें पराजित करते रहे। इन राजा – महाराजाओं के चाटुकार साहित्यकार उनकी रंगरेलियों का अतिश्योक्ति पूर्ण वर्णन करते हुए 'क्लासीकल साहित्य' के निर्माण में लगे रहे। इन सबके बावजूद भारतीय समाज अपवर्तनशील बना रहा। वर्ण–व्यवस्था कायम रही। शिक्षा, शस्त्र, सम्पत्ति आदि पर कुछ खास वर्णों का एकाधिकार बना रहा। दलित जातियाँ इन के अभाव में बहिष्कृत हो अपमानित एवं उपेक्षित जीवन जीती रहीं।

इन सब स्थितियों को ध्यान में रखते हुए अगर हम, दलित साहित्य की, परंपरा को नकारने' की प्रवृत्ति पर विचार करे तब हमें नकार की प्रवृत्ति अस्वाभाविक नहीं लगती। अपने कटु यथार्थ से मुँह फेरकर, छद्म वीरता को 'ग्लोरीफाई' करने काम भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में किया गया है। दलित चेतना को कहीं न कहीं इस बात का अहसास है। इसलिए दलित साहित्य में अपने अनुभवों को सामने रखकर पूर्ववर्ती परंपरा का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जा रहा है। जिससे ऐसा संभव है कि एक नई एवं बेहतर परम्परा की जमीन तैयार हो। मार्क्स ने भी इस बात की तरफ संकेत किया है कि हिन्दुस्तान की तरक्की और उसकी ताकत के बढ़ने के रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट उसकी वर्ण–व्यवस्था हैं दलित आत्माभिव्यक्ति वर्ण–व्यवस्था एवं उसके भौतिक आधारों पर चोट करते हुए भारतीय समाज की अपविर्तनशीलता की प्रवृत्ति को परिवर्तनशील बनाने का महत्त कार्य भी कर रही है।

दलित आत्माभिव्यक्ति की जरूरत इसलिए भी है क्योंकि यह अमूर्त प्रश्नों के बजाय मूर्त प्रश्नों पर बहस करती है। हम सब जानते हैं कि भारतीय चिन्तन परम्परा में अमूर्त प्रश्नों पर, अमूर्त विषयों पर बहस की एक लम्बी परम्परा रही है। ब्रह्म क्या है? जीव क्या है? माया क्या है? आत्मा परमात्मा क्या है? इन दोनों में परस्पर सम्बद्ध द्वैत का है या अद्वैत का? आदि विषय एक लम्बे समय तक भारतीय बौद्धिकों में विमर्श के केन्द्र बने रहे है। भारतीय बौद्धिक वर्ग– बिना इसकी परवाह किए कि ये विषय भारतीय समाज की भौतिक समस्याओं को किस हद तक प्रभावित करते है? इन अमूर्त, प्रश्नों पर लगातार बहस, टीका, टिप्पणियाँ करता रहा है। कालान्तर में, अपनी आंतरिक जरूरतों के दबाव तथा दूसरी सभ्यता एवं संस्कृतियों से भारतीय बौद्धिकों का

जैसे–जैसे सम्पर्क बढ़ता गया, बौद्धिक विमर्श में केन्द्र भी परिवर्तित होते गए। लेकिन यह परिवर्तन भी जातिभेद की समस्या तक नहीं पहुँचा। वर्ग जो कि बन नहीं पाया– विमर्श का विषय बना लेकिन वर्ण–जो कि सैंकड़ों वर्षों से है– विमर्श से बाहर रहा।

दलित साहित्य में संभवतः पहली बार इतने व्यापक रूप में मूर्त्त विषयों पर चर्चा हो रही है। दलित जीवन एवं दलित समाज से जुड़ी हर समस्या इस विमर्श के केन्द्र में है। अशिक्षा, बेरोजगारी, गरीबी, जातिभेद आदि विषयों पर दलित चेतना बेबाक एवं तार्किक बहस कर रही है। यह अवश्य है कि इन समस्याओं की अभिव्यक्ति में कुछ काल्पनिकता का भी सहारा लिया जा रहा है, फिर भी उसकी संवेदना को दलित समाज की संवेदना से अलगाया नहीं जा सकता।

हर व्यक्ति या वर्ग की बौद्धिकता की एक सीमा होती है। इस सीमा को ध्यान में न रखकर जब बौद्धिक – विमर्श में एक ही वर्ग/वर्ण की इजारेदारी कायम रहती है तब विमर्श की प्रक्रिया के विश्रृंखलित होने का डर बना रहता है। विमर्श मूर्त्त विषयों के बजाय अमूर्त्त विषयों की तरफ बढ़ता है। 'विचारधारा का अंत', 'इतिहास का अंत', 'कविता का अंत' जैसी अवधारणाएँ अपने मूल रूप में भले ही कोई अलग अर्थ देती हो, वे इस बात की तरफ भी इशारा करती है कि वैचारिक प्रक्रिया कही न कहीं खंडित हो रही है। वह सिमट रही है। इसलिए यह आवश्यक है कि विमर्श में नए वर्गों की भागीदारी हो। नए, विचार, नए दृष्टिकोण, नए अनुभव आएँ। तभी विमर्श की प्रक्रिया भी सार्थकता एवं निरन्तरता की तरफ बढ़ सकती है। समकालीन बौद्धिक विमर्श में दलित

साहित्य अपने नए अन्दाज, नए तेवर के साथ इसी भूमिका का निर्वाह कर रहा है। इस प्रक्रिया में दलित साहित्य विवादास्पद भी हो रहा है। उसकी कई रचनाएँ यह प्रश्न खड़ा करती है कि फलाँ पुस्तक या लेख 'अकादमिक विमर्श' के उपर्युक्त है या नहीं? या फलाँ कहानी, कविता या लेखक दलित चेतना की रचना या रचनाकार है या नहीं? दलित साहित्य की यह विवादोत्पादय प्रवृत्ति इस बात का प्रमाण है कि वह समकालीन बौद्धिक विमर्श में सार्थक हस्तक्षेप कर रही है। उसमें अपने लिए जगह बना रही है।

दलित साहित्य का मुख्य स्वर यही भी रहा है कि वह परिवर्तन का साहित्य है। वह वर्तमान व्यवस्था में उस परिवर्तन का आकांक्षी है जिसमें दलितों के लिए भी जगह बन सके। यहाँ यह लम्बी बहस का विषय हो सकता है कि साहित्य सामाजिक परिवर्तन के लिए कितना कारगर माध्यम है? उस बहस में न जाकर निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि यह सच है कि साहित्य गरीबी नहीं मिटा सकता? कोई राजनैतिक क्रांति नही ला सकता, लेकिन वह व्यक्ति की सोच में, समाज एवं व्यवस्था को देखने के उसके नजरिए में परिवर्तन अवश्य ला सकता है। "अकेले में पुस्तक पढ़ने की प्रक्रिया में यह निहित है कि साहित्य का साक्षात्कार मनुष्य के अपने व्यक्ति के अहसास से होता है। और इस तरह वह जो कुछ कहता है वह समाज के भीतर 'मनुष्य' और मनुष्य के भीतर उस व्यक्ति तक पहुँच सकता है।"[5] इस प्रक्रिया में ही साहित्य व्यक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है। साथ ही, यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि परिवर्तन की यह प्रक्रिया आन्तरिक एवं अस्पष्ट भी होती है। अतः इसे स्पष्ट दृष्टिगत नहीं किया जा सकता।

अगर साहित्य राजनैतिक क्रान्ति नहीं ला सकता तो एक जाति में सवाल पूछते रहने की कूबत विकसित कर सकता है या उसे बचाये रख सकता है। दलित साहित्य भी न केवल दलितों में बल्कि उनसे सहानुभूति रखने वाले गैर दलितों में भी विषमतापरक व्यवस्था के प्रति सवाल पूछने की कूबत विकसित कर रहा है।

जैसे कि–

'चूहड़े या डोम की आत्मा
ब्रह्म का अंश क्यों नही है?
मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हों?

(बस्स! बहुत हो चुका पृ.13)

या

कुआँ ठाकुर का
पानी ठाकुर का
खेत खलिहान ठाकुर के
गली मुहल्ले ठाकुर के
फिर अपना क्या?
गाँव?
शहर?
देश?

–(सदियों का संताप – पृ. 3)

ओमप्रकाश वाल्मीकि की ये कविताएँ विषमतापरक व्यवस्था के प्रति सवाल पूछने का ही काम करती है। निःसन्देह ऐसे सवाल अपने अंदर क्रान्तिधर्मी चेतना संजोए हुए हैं। दलित साहित्य के जरूरत की एक वजह यह भी है।

दलित आत्मकथाओं की जरूरत

साहित्य की सभी विद्याओं में आत्मकथा ही एकमात्र ऐसी विद्या है कि जो कभी भी बिना सोद्देश्य नहीं लिखी जा सकती। आत्मकथा लिखने के पीछे लेखक का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। ऐसा संभव है कि साहित्य की अन्य विधाएं 'कुछ लिखने की औपचारिकतावश' लिखी जा सकती है, लेकिन आत्मकथा के साथ ऐसा नहीं होता। लेखक जब महसूस करता है कि उसने जो जीया है, व्यक्तिगत जीवन संघर्षों से जो सीखा है; जो अनुभव प्राप्त किया है, वह भी प्रकाशित करने योग्य है, तब वह आत्मकथा लिखने को प्रवृत्त होता है। कभी–कभी, जब लेखक यह समझता है कि न केवल उसका कृतित्व भी कुछ कहने की क्षमता रखता है या उसके कृतित्व को समझना, उसके व्यक्तित्व को समझे बिना अपर्याप्त है, तब भी वह आत्मकथा लिखता है। यह सब स्थितियां अनिवार्य रूप से आत्मकथा को सोद्देश्य विद्या के रूप में स्थापित करती हैं।

यहाँ सबसे पहले यह समझ लेना जरूरी है कि जैसा कि पहले गया है, दलित साहित्य दलित आत्माभिव्यक्ति का पर्याय है, तब फिर दलित आत्मकथा की अलग से जरूरत क्या है?

इस प्रश्न के जबाव में वहीं तर्क दिए जा सकते हैं जो तर्क आत्मकथा का अन्य विद्याओं से अंतर स्पष्ट करते हुए दिए जाते हैं। दलित आत्मकथाएं, दलित आत्माभिव्यक्ति की एक विद्या है। यह एकमात्र विद्या नहीं है। चूंकि

दलित समाज की आत्माभिव्यक्ति अन्य विद्याओं में भी हो रही है इसलिए इसका स्वरूप व्यापक हो जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि दलित साहित्य की अन्य विद्याओं में जहाँ कल्पना का कुछ अधिक सहारा लिया जाता है, वहां आत्मकथा में सत्याश्रित विद्या होने की वजह से कल्पना की गुँजाइश कम रहती है। दलित कविताओं या कहानियों में, घटनाओं को मोड़ देने के लिए या एक व्यापक विश्व दृष्टि के निर्माण के लिए कभी–कभी काल्पनिकता की जरूरत महसूस होती है; लेकिन दलित आत्मकथाओं में ऐसी स्थिति कम होती है। आत्मकथाकार स्मृतियों पर आश्रित होकर घटनाओं में स्वाभाविकता लाने के लिए कुछ हद तक कल्पना का सहारा लेता है लेकिन अन्ततः उसका अभीष्ट सच्चाई को पुष्ट करना ही होता है। कल्पना उसे आनुषंगिक रूप से ही स्वीकार्य है, प्रधान है उसका आत्मसंघर्ष, उसकी स्मृतियाँ। अगर आत्मकथा लेखक काल्पनिक घटनाओं की प्रस्तुति करता है, तब उसकी बौद्धिक ईमानदारी पर प्रश्न उठ सकता है। इसके अतिरिक्त दलित आत्मकथाएं उस धुरी या केन्द्र के रूप में भी काम करती है जिसके इर्द–गिर्द वृतात्मक रूप में दलित साहित्य की अन्य विद्याएँ स्थित है। दलित आत्मकथाएं अन्य विधाओं की प्रामाणिकता की भी पुष्टि करती है।

दलित आत्मकथाओं के जरूरत की दूसरी वजह यह है कि ये आत्मकथाएँ गैर दलित समाज के लिए ज्ञान के नए आयाम उद्घाटित करती है। यह सर्वविदित है कि अस्पृश्यता की वजह से दलित समाज गैर दलितों के लिए अनुभव के स्तर पर अलग–थलग रहा है। गाँवों में जहाँ अस्पृश्यता

अधिक है—दलितों की बस्तियाँ गाँव की दक्षिण दिशा में बसाई जाती हैं ताकि उधर से आने वाली हवा भी 'सभ्य' गांव वालों का स्पर्श न कर सके। दलितों से गैर दलितों का सम्बन्ध महज सेवा तक ही सीमित रहा है। गाँव वालों को जब मज़दूरों की जरूरत होती है, वे दलित बस्तियों में आते है, उन्हें ले जाते है। दलितों का जीवन, उनका रहन—सहन, उनके पर्व—त्यौहार, अंध—विश्वास, रूढ़ियाँ, उनकी समस्याएँ आदि क्या है? यह सब जानने का प्रयास गैर दलितों द्वारा कम ही किया जाता है। पूर्ववर्ती साहित्य में दलितों की सम्मानजनक उपस्थिति न होने की एक वजह यह भी रही है। गैर दलितों द्वारा दलित जीवन की समस्याओं, घटनाओं की अनभिज्ञता की वजह से ऐसा भी होता है कि उनको दलित जीवन की घटनाएँ अस्वाभाविक लगती है। वे लोग मानते हैं कि दलित साहित्य में जो कुछ भी लिखा जा रहा है, वैसा होता नहीं। वह या तो अस्वाभाविक है या बढ़ा—चढ़ा कर लिखा गया है। यही नहीं हिन्दी के कुछ प्रमुख साहित्यकार भी मानते हैं कि दलित समाज की घटनाएँ, घटनाएँ न होकर टोटेम्स बन गई है। ऐसी स्थिति में दलित आत्मकथाएं— जोकि दलित समाज की प्रामाणिक अभिव्यक्ति है— गैर दलितों, मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों के समक्ष अननुभूत संवदेनाओं और अनुभवों के भंडार खोलती है। ये उन्हें यह दिखलाती है कि जिसे वे अस्वाभाविक मान रहे हैं, वह इस समाज का कटु यथार्थ है। जिसकी सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता और न ही मुँह चुराया जा सकता है।

दलित आत्मकथाओं के जरूरत की एक वजह इनका दलित समाज

के इतिहास लेखन में सहायक होना भी है। ये दलित समाज का जीवंत दस्तावेज है जो परवर्ती दलित समाज को समर्पित है। यह कटु सत्य है कि "दलितों का कोई लिखित इतिहास नहीं है। अशिक्षित वर्ग जो कुछ याद रखता है वह केवल लोककथाओं या सुनी सुनाई कहानियों द्वारा जो एक पीढ़ी दूसरी को देती रहती है, वहीं उसका इतिहास है। उसके विपरीत ऊँचे कहलाने वाले और शोषण करने वाले शक्तिशाली वर्ग के लोगों ने जहाँ अपना इतिहास जिन्दा रखा, अपने बारे में बढ़ा–चढ़ाकर लिखा वहाँ उन लोगों का इतिहास जिन्हें वे नीच कहते थे या तो तबाह कर दिया या उसे तोड़–मरोड़ कर भद्दे–घिनौने रूप में पेश किया ताकि उन्हें अपने आप से घृणा हो और आत्मबल या आत्मविश्वास पैदा करने वाला या प्रेरणा देने वाला कोई अवसर जिन्दा न रहे। दूसरी तरफ यह भी कोशिश की गई कि उनसे की गई घृणा, शत्रुता या अत्यत्याचार का कुछ सबूत न रहे।

आत्मकथा लिखना दलितों के लिए फायदेमंद होगा क्योंकि इस तरह न केवल इतिहास जिंदा रहेगा बल्कि वे अनुभव भी जिन्दा रहेंगे जो गलत काम करने वालों को सही तस्वीर तथा भविष्य में प्रेरणा देने का जरिया भी बन सकेगा। आत्मकथा एक व्यक्ति अधिकार से लिखता है। यह मौलिक कृति होती है। इस दिशा में आत्मकथा तथा आत्मकथा पर आधारित उपन्यास दोनों जरूरी है।"[6] वस्तुतः एक अच्छी आत्मकथा या आत्मकथात्मक उपन्यास में एक व्यक्ति का परिवर्तन या प्रगति के लिए संघर्ष के साथ उस समय का इतिहास भी जिन्दा रहता है। इसलिए भी दलित आत्मकथाएं दलित समाज के लिए जरूरी है।

साहित्यिक एवं ऐतिहासिक जरूरतों के साथ–साथ दलित आत्मकथाएं एक सामाजिक जरूरत को भी पूरा करती है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था की विषमतापरक संरचना के कारण दलित समाज का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी उत्पीड़न का शिकार होता रहा है। दलित समाज का कोई व्यक्ति गरीबी से त्रस्त है तो कोई अशिक्षा से, कोई बेरोजगारी से त्रस्त हैं तो कोई भूमिहीन कृषक मज़दूर बना रहने को अभिशप्त है। आशय कि, व्यक्तित्व के समुचित विकास की न्यूनतम आवश्यकताओं से भी वह वंचित है। ऐसी स्थिति में अधिकांश व्यक्ति या तो परिस्थितियों से समझौता कर लेते हैं, या संघर्षों को मंजिल तक नहीं ले जा पाते। कम ही लोग ऐसे होते है जो व्यक्तिगत एवं सामाजिक संघर्षों से जूझते हुए समाज में थोड़ी जगह बना पाते हैं। ऐसे लोगों का आत्म–संघर्ष व्यापक रूप में भले ही कोई ऐतिहासिक महत्व न रखता हो, लेकिन उनके व्यक्तिगत संघर्ष उन लोगों के लिए निःसन्देह प्रेरणादायी साबित होता है, जो विषम परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए या तो टूट जाते हैं या समझौता कर लेते हैं। हिन्दी मराठी या अन्य भाषाओं में आत्मकथा के रूप में लिखा गया दलितों का जीवन, संघर्ष न केवल दलितों को बल्कि गैर दलितों को भी विषम परिस्थितियों में संघर्ष करने की प्रेरणा देते हुए इसी सामाजिक जरूरत का निर्वाह कर रहा है।

आज हमारे समय एवं समाज पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में एक संकट मंडरा रहा है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक संकट के रूप में इसलिए है क्योंकि इसकी शब्दावली तो नई है; लेकिन व्यावहारिकता में यह उसी

ब्राह्मणवाद का पर्याय है जिसने सदियों से इस देश के बहुसंख्यक समुदाय को गुलाम बनाए रखा है। "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" अपने मूल में मनु की वर्णवादी सामंती समाज–व्यवस्था का दूसरा नाम है और हिन्दू तानाशाही का एजेंडा हैं।"[7] यह एक तरह का सांस्कृतिक उपनिवेशीकरण भी है। अपनी संस्कृति–हिन्दू संस्कृति पर अकारण गर्व, मुस्लिम, ईसाई आदि अन्य संस्कृतियों के प्रति आक्रामक रूख, यही नहीं, हिन्दू संस्कृति के अंदर भी दलितों एवं स्त्रियों के प्रति सामंती शोषण परक रवैया इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के मुख्य लक्षण हैं। हिन्दू –मुस्लिम दंगों, बाबरी–मस्जिद विध्वंश, गुजरात, उडीसा में ईसाईयों पर हुए हमलों, दलितों की सामूहिक हत्याओं, आदि में इसके झंडाबरदारों के वीभत्स कुकृत्य तो हम देख ही चुके हैं। 'भारतमाता पूजन' जैसे आयोजनों द्वारा यह समुदाय सबसे इस देश के प्रति अंध राष्ट्रभक्ति की भी उम्मीद रखता है। प्रत्येक देशवासी से अपने देश के प्रति स्वाभिमान की उम्मीद सही है, लेकिन इस प्रक्रिया में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक विसंगतियों को नजरअंदाज कर देना कतई न्यायोचित नहीं है। जैसा कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रचारक करते हैं। सांवैधानिक रूप से कई आदर्श घोषणाओं के बावजूद भारतीय समाज में दलितों की स्थिति इतनी अच्छी नहीं हो पाई है जिससे कि वे इस राष्ट्र पर गर्व कर सके। इसलिए उठाईगीर के लेखक लक्ष्मण गायकवाड़ लिखते है– "मैं तब मराठी की पहली कक्षा में ही पढ़ रहा था। तब किसी पुस्तक का पहला पृष्ठ खोलता उस पर लिखा होता, "भारत मेरा देश है। सारे भारतीय मेरे बंधु हैं। मुझे इस देश की परंपरा का अभिमान है। मुझे लगता है कि अगर यह सब कुछ सही है तो फिर हमें बिना अपराध के पीटा

क्यों जाता है? अगर सभी भारतीय भाई–भाई हैं, तो फिर हम जैसे भाइयों को काम क्यों नहीं दिया जाता? हमें खेती के लिए जमीन क्यों नहीं दी जाती? रहने के लिए हमें अच्छा मकान क्यों नहीं मिलता? हम मेहनत मज़दूरी करने के लिए तैयार है। पर हमें कोई काम धन्धा नहीं देना चाहता।..... ऐसी स्थिति में इस देश की परंपरा का अभिमान मैं क्यों और कैसे रखू।"[8] सचमुच स्वतंत्रता के छठे दशक में भी दलितों की स्थिति कमोवेश वैसी ही है। सरकारी आँकड़े गवाह है कि इस समय भी दलितों की लगभग आधी आबादी भूमिहीन कृषक मज़दूर बनी रहने को अभिशप्त है। ऐसी स्थिति में स्वेदशाभिमान उसके लिए कोरी गप्पबाजी के सिवा कुछ नहीं है।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कुछ लोगों के लिए राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया का एक रूप है। इस प्रक्रिया द्वारा वे भारत को वर्तमान दुःरवस्था से निकालकर अतीत के उस भारत का निर्माण करना चाहते है जब उसे सोने की चिड़िया कहा जाता था। लेकिन इसके पीछे उनकी मंशा पुनरूत्थानवाद को बढ़ावा देना होता है। उनकी इसी छद्म राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया पर प्रश्न करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं– "तरह–तरह के मिथक रचे गए– वीरता के, आदर्शों के। कुल मिलाकर क्या परिणाम निकले? पराजय, निराशा, निर्धनता, अज्ञानता, संकीर्णता, कूपमंडूकता, धार्मिक जड़ता, पुरोहितवाद के चंगुल में फँसा, कर्मकाण्ड में उलझा समाज, जो टुकड़ों में बँटकर कभी यूनानियों से हारा, कभी शकों से। कभी हूणों से, कभी अफगानों से, कभी मुगलों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों से हारा, फिर भी अपनी वीरता और महानता के नाम

TH- 8250

पर कमजोर और असहायों को पीटते रहे। घर जलाते रहे। औरतों को अमानित कर उनकी इज्जत से खेलते रहे। आत्मश्लाघा में डूब कर सच्चाई से मुँह मोड़ लेना, इतिहास से सबक न लेना, आखिर किस राष्ट्र के निर्माण की कल्पना हैं?"[9]

0,152,3, N5094: 9 (4,5927)
DISS 152 N9.

वस्तुतः दलित आत्मकथाएं उस छद्म का भंडाफोड़ करती है जिसका गुणगान सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों द्वारा किया जाता है। जिस हिन्दू संस्कृति की दुहाई ये राष्ट्रवादी देते है, उसी संस्कृति द्वारा दलितों पर हुए दमन, शोषण, उत्पीड़न की कहानी कहती है ये आत्मकथाएं। इस प्रक्रिया में ये आत्मकथाएँ उस दमनकारी व्यवस्था पर तो कुठाराघात करती ही है साथ ही अन्य लोगों को भी उसके भ्रमजाल से मुक्त करने का प्रयास करती है। ये इसलिए भी जरूरी है।

अंत में डॉ0 धर्मवीर की उस टिप्पणी पर भी विचार कर लेना उचित होगा, जिसमें दलित आत्मकथाओं के अस्तित्व को, उनकी जरूरत को ही नकारा गया है। डॉ0 धर्मवीर लिखते है– "दलित साहित्य में, साहित्यिक क्षेत्र में विद्या के रूप में आत्मकथा, आत्महत्या है। एक लेखक के लिए आत्मकथा लिखना,आत्महत्याकरना है।दलित लेखकोंको इसविद्या से बचना चाहिए।..... दलित साहित्यकार आत्मकथा लिखने के बजाय उन मामलों को लेकर न्यायालयों में मुकद्दमें दायर करने जाएँ तो हिन्दू समाज पर कानूनी दबाव सही ढंग से पड़ेगा। बिना मुकदमा दायर किए आत्मकथा लिखने का मतलब अपना फजीता आप करना है।[10]

Jawaharlal Nehru University Library

डॉ0 धर्मवीर को दलित आत्मथाओं से इसलिए आपत्ति हैं, क्योंकि इनसे दलितों के घरों का फजीता होता है। लेकिन, हम पहले कह चुके है कि इनसे सिर्फ फजीता नहीं होता बल्कि और भी कई अर्थ सधते हैं। ये आत्मकथाएं शोषणपरक व्यवस्था, मानसिकता एवं व्यक्ति को कटघरे में खड़ा करती है। उसमें अपराध बोध पैदा करती है। ये आत्मकथाएँ एक वृहत्तर समाज के समक्ष अननुभूत संवदेनाओं का भंडार खोलती है। डॉ0 धर्मवीर ने जिस न्यायिक प्रक्रिया में जाने की सलाह दी है। वह भी पर्याप्त नहीं है। एक तो यह सबके बस की बात नहीं है, दूसरे न्यायपालिका के आदेश कभी साहित्य एवं संस्कृति में अपनी जगह नहीं बना पाते। वे सिर्फ कानून का रूप ग्रहण करते है न कि साहित्य का। न्यायपालिका के आदेश अपराधी में अपराध–बोध भी नही पैदा करते। इसमें अपराधी सब तरफ से पराजित होने के बाद ही, मज़बूरी में सजा स्वीकार करता है। कोई जरूरी नहीं कि उसे अपने किए पर पछतावा भी हो। लेकिन दलित आत्मकथाओं में वह ताकत है जो अपराधी में अपराध बोध पैदा कर सकती है। उसे अपने अपराध पर शर्मिन्दा होने को मज़बूर कर सकती है। इस सन्दर्भ में डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन की दलित आत्मकथाओं के वैशिष्टय के सन्दर्भ में एक टिप्पणी बहुत ही सटीक है। वे लिखते है– "दलित आत्मकथा सवर्ण समाज को संबोधित संवाद है। इसमें मानवीय दायित्व बोध से भरे अनुभवों की आग है, किन्तु अपील की शक्ल में यह विचारों की वह मशाल है, जिसे पिछली पीढ़ी अगली पीढ़ी को इस उम्मीद से हस्तगत करती है कि वह मुक्ति की राह रोशन करती रहे। किन्तु कोई हृदयहीन (सवर्ण) इस

अपील को न सुने तो यह मनुस्मृति के जबाव में डॉ0 अम्बेडकर द्वारा बनाया गया, समानता का बाध्यकारी कानून नहीं है। अतः आत्मकथा से दूसरी अपेक्षाएँ नहीं करनी चाहिए।"[11]

अंत में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि दलित आत्मभिव्यक्ति एवं दलित आत्मकथाओं की जरूरत इसलिए है क्योंकि–

1. यह सदियों से दलित शोषित उस समाज की आत्माभिव्यक्ति है जिसे अब तक साहित्य में सम्मानजनक उपस्थिति नहीं मिल पाई थी।
2. अपनी पूर्ववर्ती परम्परा की आलोचनात्मक पड़ताल करते हुए यह आत्माभिव्यक्ति एक बेहतर समाज के निर्माण की जमीन तैयार कर रही है।
3. यह आत्माभिव्यक्ति बौद्धिक विमर्श को अमूर्त के प्रश्नों से हटाकर भौतिक प्रश्नों की तरफ केन्द्रित करने का प्रयास कर रही है।
4. बौद्धिक विमर्श में अपनी सक्रिय भागीदारी से यह विमर्श की प्रक्रिया को विश्रृंखलित एंव अमूर्त होने से बचाने का प्रयास कर रही है।
5. यह विशेष रूप से दलितों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन लाने का एक माध्यम है।
6. दलित आत्मकथाएं दलित साहित्य की प्रामाणिकता की आधार भूमि तैयार कर रही हैं।
7. ये आत्मकथाएँ मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों एवं गैर दलित समाज के लिए अननुभूत संवदेनाओं का भंडार खोल रही है।
8. ये दलित समाज के इतिहास लेखन में सहायक हो सकती है।
9. यह संघर्षशील मनुष्यों के लिए प्रेरणादायी है।
10. ये आत्मकथाएँ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के छद्म का भंड़ाफोड़ करती है।

संदर्भ

1. रमणिका गुप्ता– संपादकीय युद्धरत आम आदमी अंक 40 पृ0 (XI)
2. डॉ० धर्मवीर – दलित चिंतन का विकास, अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर, हंस मार्च 1998, पृ. 52
3. कार्ल मार्क्स– भारत सम्बन्धी लेख, पृ० 83
4. डॉ० रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय पृ० 57
5. गोबिन्द मिश्रः साहित्य का संदर्भ, पृ० 5
6. भगवान दास, अंगुतर (अप्रैल, मई, जून – 1996) पृ० 9
7. राजेन्द्र यादव, संपादकीय, हंस, मई 1999 पृ० 7
8. लक्ष्मण गायकवाड़ – उठाईगीर पृ० 51–52
9. ओमप्रकाश वाल्मीकि, जूठन, पृ0 160
10. डॉ० धर्मवीर, दलित साहित्य 1999, सं० जय प्रकाश कर्दम पृ० 47
11. डॉ. श्यौराजसिंह बेचैन, 'जूठन' अछूती सच्चाई का श्वेत पत्र है। युद्धरत आम आदमी अंक 40 पृ० 33

दूसरा अध्याय

दलित आत्मकथाओं का वैशिष्ट्य

दलित आत्मकथाओं का वैशिष्टय

- विवेच्य आत्मकथाओं का सामान्य परिचय
- दलित आत्मकथाओं का वैशिष्ट्य

1. हाशिए की अभिव्यक्ति।
2. दलित समाज की भी कथा।
3. उद्देश्य, यशोवृद्धि नहीं।
4. साहित्य की श्रेणियों एवं विभागों की समाप्ति।
5. बहु आयामी संघर्षों की दस्तावेज।
   (क) शिक्षा–प्राप्ति के लिए संघर्ष
   (ख) आत्मसम्मान के लिए संघर्ष आदि
6. भारतीय गाँवों की सही तस्वीर प्रस्तुत करना।
7. दलित सौन्दर्य शास्त्र के निर्माण के सहायक।

विवेच्य आत्मकथाओं का सामान्य परिचय

पहले अध्याय में हमने दलित आत्माभिव्यक्ति एवं आत्मकथाओं की जरूरत के कारणों पर विचार किया है। दूसरे अध्याय में हम हिन्दी एवं मराठी की कुछ दलित आत्मकथाओं को केन्द्र में रखकर सम्मिलित रूप से उनके वैशिष्टय का निरूपण करेंगे। अपने इस अध्ययन में हमने हिन्दी एवं मराठी की निम्नलिखित आत्मकथाओं को केन्द्र में रखा है।

मराठी

1. अछूत — दया पवार
2. यादों के पंछी — प्र0 ई0 सोनकांबले
3. पराया — लक्ष्मण माने
4. अक्करमाशी — शरण कुमार लिंबाले
5. जीवन हमारा — बेबी कांबले
6. छोरा कोल्हाटी का — किशोर शांताबाई काले
7. तराल अंतराल — शंकरराव खरात
8. उठाईगीर — लक्ष्मण गायकवाड़

हिन्दी

9. अपने अपने पिंजरे — मोहनदास नैमिशराय
10. जूठन — ओमप्रकाश वाल्मीकि

मराठी से हमने उन्हीं आत्मकथाओं को लिया है जिनका हिन्दी में अब तक अनुवाद हो गया है। इनके अलावा भी मराठी में बहुत सी उत्कृष्ट दलित आत्मकथाएँ है, लेकिन उनका हिन्दी अनुवाद न हो सकने के कारण हमारे लिए उनका अध्ययन संभव नहीं था। इसलिए हमने उन्हें नहीं लिया।

इस अध्याय में हमने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए है या जिन विशेषताओं एवं प्रवृतियों का उल्लेख किया है, वह इन्हीं आत्कथाओं को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत किया गया है। अन्य आत्मकथाओं में यह मात्र संयोग ही हो सकता है।

इन आत्मकथाओं का संवदेनात्मक संसार इतना व्यापक है कि सबका सारांश प्रस्तुत करना यहां न तो संभव है और न ही अपेक्षित। इसलिए हम बहुत ही संक्षेप में इनका परिचय देने की कोशिश करेंगे।

दया पवार की *'अछूत'* मराठी दलित साहित्य की पहली आत्मकथा है। मराठी में यह 'बलुत' के नाम से 1978 में ग्रंथावली प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुई। अब तक मराठी में इसके कई संस्करण निकल चुके है। हिन्दी में यह 1980 में राधाकृष्ण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुई। इसका हिन्दी के अलावा कन्नड़, गुजराती, जापानी, जर्मन इतालवी आदि कई देशी–विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ है। इस पर एन0 एफ0 डी0 सी0 (नेशनल फिल्म डेवलपमेन्ट कॉरपोरेशन) द्वारा 'अत्याचार' नामक फिल्म भी बनाई गई थी। इस आत्मकथा को कई राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय सम्मान भी प्राप्त हुए है।

इस आत्मकथा में दयापवार ने समाज के हाशिए पर धकेल दिए गए महारों का जीवन इस तीव्रता से उभारा है कि वह पाठकों के समक्ष पीड़ा की

परिभाषा बदलकर रख देता है। यह उपन्यास की शैली में लिखा गया है लेकिन यह उपन्यास नहीं, आत्मकथा है। इसमें लगता है, लेखक ने दगडू की कहानी कही है, लकिन यह 'दगडू' कोई और नही, स्वयं लेखक है। 'दगडू' दयापवार का 'बरही' के समय रखा गया नाम है।

'यादों के पंछी' **'प्रहलाद ईरनाक सोन कांबले'** की आत्मकथा है। मराठी में यह 'आठवणी चे पंक्षी' के नाम से चेतना प्रकाशन' द्वारा 1979 में प्रकाशित हुई। इसका हिन्दी अनुवाद डॉ0 सूर्यनारायण रणसुभे ने किया है। हिन्दी में यह 1983 में राधाकृष्ण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा को महाराष्ट्र सरकार द्वारा 1979–80 के उत्कृष्ट साहित्य के लिए पुरस्कृत किया गया है।

यह आत्मकथा मानवीय संवेदनाओं को झकझोर कर रख देती है। एक ओर लेखक को जहाँ अस्पृश्यता के अभिशाप के साथ दरिद्रता जन्म से ही विरासत में मिलती हैं, वहीं बचपन भी अनाथ मिलता है। जब वे परीक्षा देने जाते हैं तो रोटी के सूखे टुकड़े को पिछवाड़े से चुराकर खाते हैं। कॉलेज जीवन तक उनको चप्पल नसीब नहीं हुई। उसी समय उन्होंने अपने पैरों की सालती यातना के ठोस रूप में 47 काँटें निकाले।

'तराल–अंतराल' **'शंकर राव खरात'** की आत्मकथा है जिसका हिन्दी अनुवाद डॉ0 केशव प्रथम वीर ने किया है। इसमें खरात ने 'तराल' क्षेत्र में दलितों की बस्ती में अपने जन्म से लेकर 1975 में मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर नियुक्ति के काल तक के जीवन–अनुभवों का सटीक, जीवंत यथार्थ–ब्यौरा प्रस्तुत किया है।

'पराया' **लक्ष्मण माने** की आत्मकथा है। यह मराठी में 'उपरा' के नाम से प्रकाशित हुई। इसका हिन्दी अनुवाद दामोदर खड़से ने किया है। यह आत्मकथा आजीविका की तलाश में गाँव–गाँव भटकने वाली कैकाड़ी जाति का पहला साहित्यिक प्रयत्न है। इस आत्मकथा की सबसे बड़ी खासियत है कि इसमें माने ने अपनी जाति की बुराइयों की, जाति के पंचायतों द्वारा स्थापित बंदिशों की निर्ममतापूर्वक आलोचना की है।

'अक्करमाशी' **शरणकुमार लिंबाले** की आत्मकथा है। इसका हिन्दी अनुवाद डॉ0 सूर्य नारायण रणसुभे ने किया है। यह 'स्त्री–पुरुष' के अनैतिक एवं असामाजिक संबंधों से उत्पन्न संतान की मर्मस्पर्शी व्यथा कथा है। इसमें लिंबाले का भोगा हुआ यथार्थ अपने अस्तित्व की पहचान के लिए केवल अपनी माँ का ही आँचल नहीं पकड़ता बल्कि, संपूर्ण समाज और सामाजिक व्यवस्था को प्रश्नों के कठघरे में खड़ा कर देता है।

किशोर, शांताबाई काले की आत्मकथा *'छोरा कोल्हाटी का'* कोल्हाटी समाज की स्त्रियोंपर होने वाले अत्याचारों को बेबाकी से प्रस्तुत करती है। कोल्हाटी समाज की स्त्रियाँ नाच गाने के पेशे से जुड़ी होने के कारण शादी नहीं कर सकती। उनके पति बदलते रहते हैं। पतियों के लिए उनकी सार्वजनिक नीलामी होती है। उनके बेटे पढ़ लिख नहीं सकते। यह आत्मकथा उसी समाज के एक लड़के किशोर काले की कहानी है जो कठिन संघर्ष के बाद डॉक्टर बन सका है। इसका हिन्दी अनुवाद अरूंधती देव स्थले ने किया है।

लक्ष्मण गायकवाड़ की *'उठाईगीर'* एक ऐसे व्यक्ति की व्यथा–कथा है

जिसकी जाति को जन्म से ही अपराधी घोषित कर दिया गया है। इसमें गायकवाड़ ने उठाईगिरों की दरिद्रता, उनकी मज़बूरी, भूख के कारण होने वाली उनकी छटपटाहट और अभावग्रस्तता को बहुत ही मार्मिकता के साथ चित्रित किया है। लेखक स्वयं एक सामाजिक कार्यकर्त्ता भी है। उन्होंने विभिन्न समस्याओं को गहराई से देखा है एवं उनसे मुक्ति के लिए संघर्ष किया हैं। इन सबका उल्लेख उनकी इस आत्मकथा में मिलता है। इसका हिन्दी अनुवाद डॉ0 सूर्य नारायण रणसुभे ने किया हैं

बेवी कांबले की आत्मकथा *जीवन हमारा* मराठी में 'जिणं आमुचं' के नाम से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी में इसका अनुवाद ललिता अस्थाना ने किया है। एक स्त्री द्वारा लिखे जाने के कारण यह आत्मकथा तो महत्वपूर्ण है ही, दलितों के जीवन में जड़ जमा चुके अंधविश्वासों के चित्रण एवं उन पर प्रहार करने की वजह से भी यह खासी महत्व की है। इसके अतिरिक्त इसमें स्वयं दलित समाज के भीतर ही दलित स्त्रियों की दयनीय अवस्था का बेबाकी से चित्रण किया गया है।

मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा *'अपने–अपने पिंजरे'* हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा' है। यह उनके 20 वर्ष तक के कड़वे अनुभवों की बेबाक कहानी है। इसमें भी वही नंगा एवं कड़वा सच बार–बार उभरा है जिसे भारतीय समाज की विषम संरचना में छटपटाहट भरी परिस्थितियों में दलित समाज के लोगों ने भोगा है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की *'जूठन'* हिन्दी की दूसरी दलित आत्मकथा

है। यह एक ऐसे दलित परिवार की कथा है जो जातिगत धरातल पर दलितों में भी अत्यंत निचले पायदान पर और बहुत ही पिछड़ा हुआ रहा है। इसमें बाल्मीकि जी की, निहायत प्रतिकूल, विकट खौफनाक व अपमान जनक स्थितियों से जीवन शुरु करके आत्मसम्मान से लैस व्यक्ति एवं विचार सम्पन्न लेखक व रचनाकार बनने की गाथा है। इसमें कड़वे जीवन प्रसंगों के प्रति लेखक का दृष्टिकोण अधिक महत्व रखता है।

दलित आत्मकथाओं का वैशिष्ट्य

इन आत्मकथाओं का संवदेनात्मक संसार इतना व्यापक है, जोकि विस्तृत विवेचन विश्लेषण की मांग करता है। लघुशोध प्रबंध की सीमाओं की वजह से यह सब यहाँ संभव नहीं है। अतः यहाँ हम इन आत्मकथाओं के संदर्भ में उन्हीं प्रवृतियों या विशेषताओं का उल्लेख करेंगे जो प्रायः सभी आत्मकथाओं में विद्यमान है। साथ ही, दलित आत्मकथाओं के वैशिष्टय को रेखांकित करने के सन्दर्भ में ही दलित विमर्श में उठने वाले उन प्रश्नों पर भी विचार करेंगे जिनका प्रत्यक्षतः या परोक्षतः सम्बन्ध इन आत्मकथाओं से बनता है।

दलित आत्मकथाओं के वैशिष्ट्य पर विचार के प्रसंग में सबसे पहले मन में यही सवाल उठता है कि आखिर इन आत्मकथाओं को दलित आत्मकथा क्यों कहा जाय? ये किसी व्यक्ति–विशेष द्वारा लिखी गई है, अतः इन्हें किसी व्यक्ति विशेष की आत्मकथा न कहकर किसी समाज की कथा क्यों कहा जाय? दलित आत्मकथाओं से पहले भी हिन्दी एवं अन्य भाषाओं में आत्मकथाएँ लिखी गई हैं वे सब व्यक्ति–विशेष की आत्मकथा कही जाती है, न कि जाति विशेष की, फिर दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं को दलित आत्मकथा' क्यों कहा जाय?

इस संदर्भ में कई ऐसे कारण है जो हमें दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं को दलित आत्मकथा' मानने एवं अन्य आत्मकथाओं से दलित आत्मकथाओं को विशिष्ट बनाने का काम करते है।

हाशिए की अभिव्यक्ति

पहला कि, सामाजिक वर्णानुक्रम में भी दलित लगभग अलग–थलग पड़े रहे है। हिन्दू समाज–व्यवस्था में दलित चारों वर्णों से अलग, अछूत अंत्यज बनकर हाशिए पर जीवन जीते रहे हैं। जबकि गैर दलितों को इस समाज व्यवस्था में जन्म से एक स्थान, एक स्तर मिला हुआ है। गैर दलित जन्म से ही कुछ अतिरिक्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा के भागीदार हो जाते हैं। जबकि दलितों को इसके उलटे, जन्म से ही एक खास तरह की उपेक्षा, अपमान का सामना करना पड़ता है। जो गैर दलितों को अपवाद स्वरूप नसीब होता है। यह सामाजिक स्थिति दलितों को गैर दलितों से अलग करती है। फलतः उनकी आत्मकथाएँ भी गैर दलितों से अलग संवदेनाओं को अभिव्यक्त करती है।

दलित समाज की भी कथा

दूसरा कि, हिन्दी या अन्य भाषाओं में गैर दलितों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएँ उस व्यक्ति विशेष की कथा होती है। आत्मकथाक़ार ने अपने व्यक्तिगत जीवन में जो अनुभव किया है, जिन लोगों एवं परिस्थितियों से उसका साबका पड़ा है, वह सब उसकी आत्मकथा में मुखरित होता है। वह अनुभव उसका नितान्त व्यक्तिगत होता है। यह जरूरी नहीं कि उस लेखक ने जो अनुभव किया है, वह उसी की जाति या परिवेश के अन्य लोगों ने भी अनुभव किया हो। जैसे 'अपनी खबर' में पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने अपने 20 वर्ष तक की जिन घटनाओं का उल्लेख किया है वह जरूरी नहीं कि उन्हीं की

जाति या समुदाय के अन्य लोगों ने भी वैसा ही अनुभव किया हो। अगर ऐसा होगा भी तो अपवादस्वरूप ही जबकि दलित आत्मकथाओं में ऐसी स्थिति नहीं है क्योंकि दलित आत्मकथाएँ आत्मकथाकार के साथ–साथ दलित समाज की भी कथा होती है। इन आत्मकथाओं में लेखक के व्यक्तिगत जीवन संघर्ष के साथ–साथ उसका समाज भी चित्रित होता है, भले ही आत्मकथाकार की कोई विशेष जाति होती है लेकिन उसकी सामाजिक स्थिति लगभग समान होती है। उन्हें लगभग एक जैसी सामाजिक उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। जैसे वाल्मीकि जाति के ओमप्रकाश वाल्मीकि हो या जाटव जाति के मोहनदास नैमिशराय, महार जाति के दयापवार हो या कैकाड़ी जाति के लक्ष्मण मानें। इन सबकों एक जैसी सामाजिक उपेक्षा का सामना करना पड़ा है। इसलिए यह अकारण नहीं है कि इनकी आत्मकथाओं की संवेदना में समानता दिखती है। यह सब इनकी एक जैसी सामाजक स्थिति होने की वजह से संभव होता है क्योंकि चाहे महाराष्ट्र के दलित हों या हिन्दी प्रदेश के, सभी ब्राह्मणवाद के शोषण के शिकार हैं। अतः उनका आत्मसंघर्ष व्यक्तिगत न होकर सामाजिक हो जाता है। वस्तुतः दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्ति संघर्ष भी एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से नहीं, बल्कि एक समाज का दूसरे समाज से है। इसीलिए भी ये आत्मकथाएँ सामाजिक संघर्ष की अभिव्यक्ति प्रतीत होती है।

उद्देश्य, यशोवृद्धि नहीं

तीसरी विशेषता आत्मकथा लेखन के उद्देश्यों से सम्बन्धित है। आत्मकथा लेखन के अन्य उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह भी है कि इसमें आत्मकथाकार की

यशोवृद्धि की आकांक्षा, अन्तर्निहित होती है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लेखक की यह मंशा अवश्य रहती है कि इससे उसकी प्रतिष्ठा, सम्मान आदि में बढ़ोतरी होगी। उसके अनुभवों को, उसकी उपलब्धियों को लोग तबज्जो देंगें। उसके कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर लोग गर्व करेंगे। इसलिए अधिकांश आत्मकथाओं में ऐसा देखा गया है कि लेखक अपने जीवन के कतिपय आदर्श अंगों को ही लिखता है। जीवन के कलुषित एवं असंगत अंशों को प्रकट करने से वह बचना चाहता है। जो उसकी प्रतिष्ठा उसके सामाजिक सम्मान को धक्का पहुँचा सकती है। यह प्रवृत्ति आत्मकथा की प्रमाणिकता के लिए, उसकी स्वाभाविकता के लिए संदेह पैदा कर सकती है।

संभवतः पहली बार दलित आत्मकथाओं ने यशोवृद्धि की इस आदर्श मानसिकता को तोड़ने का साहस किया है। दलित लेखकों ने अपने जीवन के कलुषित लेकिन सच्चे अनुभवों को व्यक्त किया है। इस अभिव्यक्ति में उन्हें यशोवृद्धि तो दूर कई बार अपमान जनक अनुभवों को फिर से जीने का जोखिम उठाना पड़ा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में – इन अनुभवों को लिखने में कई प्रकार के खतरे थे। एक लम्बी जद्दोजहद के बाद, मैंने सिलसिलेवार लिखना शुरु किया। तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिकता यंत्रणाएँ मैंने भोगी। स्वंय को परत–दर–परत उधेड़ते हुए कई बार लगा– कितना दुखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह सब अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है। .... कई मित्र हैरान थे, उसी से आत्मकथा लिख रहे हो.... । एक मित्र की

यह भी सलाह थी कि मैं आत्मकथा लिखकर अपने अनुभवों का मूलधन खा रहा हूँ। कुछ का यह भी कहना था कि खुद को नंगा करके आप अपने समाज की हीनता को ही बढ़ाएँगे। एक बेहद आत्मीय मित्र को भय सता रहा है– उन्होंने लिखा– आत्मकथा लिखकर आप अपनी प्रतिष्ठा ही न खो दें।"[1]

कुछ इसी तरह की वेदना ***'अक्करमाशी'*** के लेखक शरणकुमार लिंबाले की भी है। वे लिखते हैं– मुझे लगता रहा कि मैंने बेकार मैं ही आत्मकथा लिख डाली। अपने किसी निकटस्थ मित्र को 'अक्करमाशी' पढ़ाने की मेरी इच्छा ही नहीं होती, छटपटाहट होती है। किसी रंडी का मैं बेटा हूँ, इसे वह जान गया तो? भोगी हुई दरिद्रता, जाति, सुअर का मांस, यह सब अगर वह पढ़ गया तो? ऐसे प्रश्न मुझे सताने लगते हैं।"[2]

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि दलित आत्मकथाएँ न तो शोहरत की इच्छा से अनुप्रेरित है, न इनका काम कुछ दिलचस्प वाकयों का बयान करना है, न पैसा और मनोरंजन के लिए है, न ही शाब्दिक कलाबाजी दिखाते हुए अमर होने के लिए। इनका उद्देश्य इन सबसे अलग है। दलित आत्मकथाएँ भारतीय जीवन–जगत की सच्चाई को, हिन्दू–व्यवस्था की सडाँध का तथा उसके जहरीले नुकीले पंजों को बेनकाब कर रही है।

साहित्य की श्रेणियां एवं विभागों की समाप्ति

दलित आत्मकथाओं के वैशिष्टय का एक पक्ष यह भी है कि उसने साहित्य की श्रेणियों अथवा विभागों को समाप्त कर दिया है। दलित साहित्य के संदर्भ में मराठी के प्रसिद्ध साहित्यकार प्रभाकर नारायण परांजपे की

मान्यता है कि – "दलित साहित्य ने साहित्य की श्रेणियों अथवा विभागों को समाप्त कर दिया है।" अभिप्राय है कि पूर्ववर्ती साहित्य में स्थिति सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक के जो लेबल्स साहित्य के अलगाव के लिए अथवा स्वतंत्र अस्तित्व के लिए लगाए जाते थे वे दलित साहित्य निर्मिति के कारण समाप्त हो गए है। दलित साहित्य में समस्या मात्र साहित्यिक नहीं होती है। बल्कि साहित्यिक होने के साथ–साथ वह सामाजिक और राजनैतिक भी होती है। जब वह साहित्यिक रूप से सामने आती है तब वह अपने अन्य आयामों सहित उपस्थित होती है।"[3]

परांजये जी की यह मान्यता दलित आत्मकथाओं के सन्दर्भ में भी शत–प्रतिशत, सही लगती है। दलित आत्मकथाओं ने भी इन श्रेणियों अथवा विभागों को तोड़ा है। उनका मूल्यांकन सिर्फ साहित्यिकता के आधार पर नहीं किया जा सकता। अगर ऐसा होता है तो वह एकांगी अध्ययन ही होगा। क्योंकि ये आत्मकथाएँ सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आर्थिक संवदेनाओं एवं उनसे जुड़े सवालों को भी उठाती है। सदियों से शिक्षा से वंचित किए जाने एवं वर्तमान में सवर्ण वर्चस्व वाली व्यवस्था तंत्र द्वारा शिक्षा प्राप्त में बाधक स्थितियाँ पैदा करने के लिए जहाँ ये आत्मकथाएँ ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था को कटघरे में खड़ा करती है, वहीं काम करने की इच्छा के बावजूद काम न मिलने (उठाईगीर) एवं बेगारी तथा उचित मज़दूरी न मिलने के प्रश्नों को उठाकर आर्थिक समस्याओं से भी दो–चार होती है। महाराष्ट्र में कांग्रेस–रिपब्लिकन की साँठ–गाँठ के परिणाम को 'स्लो–प्वाइजनिंग' (अछूत)

के रूप में देखते हुए जहाँ दलित–आन्दोलन एवं दलित राजनीति पर पुनर्विचार की संभावना व्यक्त करती है, वहीं सवर्ण लड़की से विवाह करने वाले लक्ष्मण माने (पराया) पर विरादरी के दबाव एवं बंदिशों के उल्लेख से दलितों में होने वाले सामाजिक आंदोलनों की असफलता के कारणों की भी पहचान करती है।

इन सारी संवदेनाओं को व्यक्त करने वाली आत्मकथाओं का मूल्यांकन सिर्फ साहित्यिक आधार पर नहीं किया जा सकता। बल्कि पूरे राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संदर्भों के साथ ही इनका मूल्यांकन हो सकता है। इसलिए यदि इन आत्मकथाओं की प्रामाणिकता, यथार्थ–बोध, आत्मसंघर्ष आदि की पड़ताल के लिए साहित्येतर उपकरणों का सहारा लिया जाय तो यह अनुचित नहीं होगा।

बहुआयामी संघर्षों के दस्तावेज

दलित आत्मकथाएँ दलित समाज के बहुआयामी संघर्ष की दस्तावेज है। कुछ अर्थों में यह कहा जा सकता है कि किसी दलित को अपनी अस्मिता के साथ समाज में एक जगह बनाने के लिए सामान्यतः जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, ये आत्मकथाएँ उन सबका बयान करती है। शायद यही वजह है कि दलितों को ये आत्मकथाएँ कुछ अपनी सी लगती है। लगता है मानों इन आत्मकथाकारों का जीवनसंघर्ष सिर्फ उनका नहीं, बल्कि पाठक का भी है। बहरहाल यहाँ विश्लेषण के केन्द्र में कुछ आत्मकथाएँ ही है, इसलिए उन पर विचार करना ही तर्क संगत होगा।

दलित लेखकों का संघर्ष बहुआयामी इसीलिए है क्योंकि इन्हें जन्म से ही एक प्रतिकूल सामाजिक स्थिति प्राप्त हुई हैं। सभी विवेच्य लेखकों में कोई भी ऐसा नहीं है जिसको जन्म से ही शिक्षित, सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित परिवेश मिला हो। सबको शिक्षा के लिए,सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए, जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भयंकर संघर्ष करना पड़ा है। विभिन्न आत्मकथाओं से उद्धृत प्रसंगों की रोशनी में इन लेखकों के बहुआयामी संघर्ष को समझा जा सकता है।

शिक्षा के लिए संघर्ष– किसी व्यक्ति या समाज के लिए शिक्षा का क्या महत्व है? शिक्षित होने और न होने से उनकी स्थितियों में किस तरह उन्नति या अवनति हो सकती है। इन सबका प्रमाणिक ब्यौरा अगर किसी को प्राप्त करना हो तो वह दलित समाज का अध्ययन कर सकता है। दलित समाज इस बात का गवाह है कि अशिक्षित होने की वजह से वह किस तरह सदियों तक दास बना रहा एवं शिक्षा के सम्पर्क में आने से कैसे–कैसे उसकी परिस्थितियों बदल रही है।

कहना न होगा कि दलितों को सदियों से शिक्षा से वंचित रखा गया था। यह अनायास नहीं था बल्कि सचेतन रूप से ब्राह्मणवाद द्वारा किया गया था। ब्राह्मणवाद द्वारा इसलिए क्योंकि स्वामित्व के लिए ही इस व्यवस्था का उदय हुआ। "वैदिक काल में व्यवस्था का सैद्धान्तिक ढाँचा खड़ा हुआ है तथा उत्तरवैदिक काल में व्यवस्था ने संस्थागत स्वरूप प्राप्त कर लिया। तब भूमि मानव, श्रम, पशु एवं युद्ध सामग्री ही मुख्य सम्पत्ति थे, इस तरह प्रकृति प्रदत्त

सम्पदा एवम् मानव–श्रम पर स्वामित्व को लेकर ही ब्राह्मणवाद का जन्म हुआ।"[4] इस प्रक्रिया में आगे चलकर जब वर्णों का उदय हुआ एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध जटिल होते गए तब शिक्षा पर भी कुछ खास वर्णों का स्वामित्व स्थापित हो गया। इतिहास गवाह है कि शूद्रों एवं दलितों को सदियों से शिक्षा से वंचित रखा गया। मनुस्मृति का वह प्रसिद्ध श्लोक तो है ही जिसमें शूद्रों को वेद पढ़ने पर जीभ काटने एवं सुनने पर कान में शीशा पिघला कर डालने का प्रावधान है। कई धर्म सूत्रों में भी ऐसा उल्लेख है कि गाँव में उनके प्रवेश पर वेदों का अध्ययन रोक देना चाहिए। आशय कि दलितों के शिक्षित होने की हर संभावनाओं पर प्रतिबंध था। इसलिए यह अकारण नहीं है कि 19वीं सदी से पहले एक दो अपवादों को छोड़कर दलितों में किसी के पढ़े–लिखे होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। निर्गुणिये संतों का अशिक्षित होना हम सब जानते ही है।

यह सब कुछ उच्च वर्णों द्वारा सामाजिक वर्चस्व को स्थायी रखने की मंशा से ही किया गया। लार्ड मैकाले को सामान्यतः इसीलिए बदनाम दिया जाता है क्योंकि उसने सलाह दी थी कि किसी देश की शिक्षा–व्यवस्था को नष्ट करके उस पर स्थायी रूप से शासन स्थापित किया जा सकता है। लेकिन भारतीय संस्कृति पर गर्व करने वालों को, उन ब्राह्मणवादयिों को 'साधुवाद' देना चाहिए जिन्होंने सदियों पहले दलितों को शिक्षा से दूर रख कर स्थायी गुलाम बनाने की पद्धति का अविष्कार कर लिया था। इसलिए कि उन्हें इस बात का डर था कि दलित शिक्षा के सम्पर्क में आते ही अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो जाऐंगे।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के दस्तावेज 'प्रोगेस ऑफ एजूकेशन इन इण्डिया' के विभिन्न रिपोर्टो में ऐसे कई उदाहरण मिल जाऐंगे कि जब अंग्रेजों ने दलितों को शिक्षित करने का प्रयास शुरु किया एवं यह अनिवार्य कर दिया कि उन विद्यालयों का अनुदान रोक लिया जाएगा जिनमें दलितों को प्रवेश नहीं मिलता, तब मद्रास के कई जिलों में दंगे भड़क गए। दलितों के स्कूल में जाने के कारण कई दलित बस्तियों को सवर्णों ने आग लगा दी। कई विद्यालयों के अध्यापकों ने इस्तीफे दे दिए। कई विद्यालय मंदिरों के अहाते में स्थानांतरित हो गए ताकि दलित उनमें प्रवेश नहीं कर सके। ब्रिटिश सरकार ने येन–केन प्रकारेण इस पर काबू पाया। दलितों को शिक्षित करने के लिए अलग विद्यालय खोलने के साथ कई अन्य उपाय किए। ये सब घटनाएँ प्रोगेस ऑफ एजूकेशन इन इण्डिया के 1886 से लेकर 1922 तक के वार्षिक रिपोर्टों में वर्णित है।

इन घटनाओं की रोशनी में जब हम इन आत्मकथाओं में वर्णित घटनाओं को देखते हैं, तब वे घटनाएँ अस्वाभाविक नहीं लगती। इन आत्मकथाकारों में से किसी को भी विद्यालय का माहौल बेहतर नहीं मिलता है। सबको शिक्षा प्राप्ति के क्रम में विभिन्न दुर्घटनाओं का सामना करना पड़ता है। यद्यपि इन सभी आत्मकथाकारों के छात्र जीवन में लगभग 50 वर्षों का अंतर है। 'अछूत' के दयापवार 1935–40 के आस–पास स्कूल जाते है और अक्करमाशी के शरण कुमार लिंबाले 1970 के आस–पास फिर भी 'अछूत' से लेकर अक्करमाशी तक सबकी प्रारंभिक छात्र जीवन की परिस्थितियाँ लगभग

एक सी है। सबको बचपन से ही स्कूल में उनकी जाति का अहसास करा दिया जाता है कि वे नीच जाति के है, अस्पृश्य है उन्हें अलग बैठना है। पानी पीने के बर्तनों को नहीं छूना है। जो पहले से ही गरीबी एवं भुखमरी के शिकार है, उन्हें अस्पृश्यता का भी दंश झेलना पड़ता है। कहना न होगा कि यह सब सचेतन रूप से करवाया जाता है।

लगभग सभी आत्मकथाकारों को प्रतिकूल परिस्थितियों में विद्याध्ययन करना पड़ा है। सुबह बिना कुछ खाए स्कूल जाना, मध्यांतर में इधर–उधर पेड़–पौधों से फल तोड़कर खाना या सहपाठियों द्वारा दिए गए रोटी के कुछ टुकड़ों से भूख मिटाने की कोशिश करना, स्कूल में अन्य लड़कों से अलग बैठना, गाँव के सहपाठियों द्वारा उन्हें जाति–सूचक नामों से चिढ़ाया जाना, पाठ्य–पुस्तकें न होने से शिक्षकों की फटकार सुनना, लगभग सबकी नियति है। ऐसे में जब वे ऊँची शिक्षा के लिए उन विद्यालयों में जाते हैं, जिनमें बोर्डिंग है एवं खाना मुफ्त दिया जाता है, तब उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। यद्यपि वहाँ भी उन्हें भरपेट भोजन कम ही मिलता है, फिर भी उन्हें इस बात का संतोष है कि चलो कुछ तो नियमित रूप से मिलता है। इस खुशी का उल्लेख लगभग सभी आत्मकथाकारों ने किया है।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद ऐसा कुछ है जो इनको टूटने नहीं देता। इनको लगातार संघर्ष करने की प्रेरणा देता रहता है। इनकी उम्र के अन्य बच्चे जब पढ़ाई छोड़कर आजीविका के लिए अन्य कामों में लग जाते हैं, इसके बाद भी इनके जीवन में कोई न कोई व्यक्ति एक सम्बल के रूप में

है जो इनको लगातार प्रेरणा देता रहता है। वह किसी की माँ है, किसी की बहन है तो किसी का ताऊ, पिता का अन्य कोई सम्बन्धी। 'अछूत' में दयापवार की माँ को महारवाड़ा का ही उमा दाया यह सलाह देता है कि – "सखू, लड़के को क्यों स्कूल भेजती हो? हम क्या ब्राह्मण है? गली–कूचे घूमेगा और दाना–पानी कमा लेगा। नहीं तो जायेगा ठोर चराने। चार पैसे लायेगा। तुम्हारे नोन–तेल की व्यवस्था हो जायेगी।

माँ ने उमा दाया की सलाह नहीं मानी। बच्चे को पढ़ाना है, उसे बड़ा साहब बनाना है, यह प्रेरणा उन दिनों उसे किसने दी होगी?

(अछूत पृ0 54)

बच्चे को पढ़ाने के प्रति ऐसा ही जज्बा 'पराया' के लेखक लक्ष्मण माने के पिता का भी है। एक बार लक्ष्मण की माँ गुस्से में आकर उनके पिता से कहती है– "तू लक्ष्या (लक्ष्मण) को मार डाल, जला डाल, तभी तुम्हें संतोष मिलेगा। ये क्या पढ़–लिखकर बड़ा अफसर बनेगा? लक्ष्मण के पिता गुस्से में आकर उनकी माँ की पिटाई करते हैं एवं कहते है– "गली का कुत्ता बनकर घूमने दे। मैं क्यों स्कूल में डालू?.....इसे क्या आवारागर्दी करने दूँ। उसे स्कूल में डालकर मास्टर बनाऊँगा। अफसर बनाऊँगा। वह पढ़ेगा तो परमेश्वर उसका भला करेगा। (पराया पृ० 4)

'उठाईगीर' के लक्ष्मण गायकवाड़ को भी पढ़ाने के लिए उनके बाबा ने कई परेशानियाँ उठाई हैं। उनकी जाति के अन्य लोग बच्चे को चोरी कराने की शिक्षा दिलाने में अधिक रुचि लेते थे। जबकि उनके पिता उन्हें पढ़ाने का

दृढ़ निश्चय कर चुके थे। वे लिखते है– "यह सच है कि मेरा स्कूल जाना विरादरी में किसी को पसन्द नहीं था। वे बाबा से कहते 'मातई' लक्ष्मण को चोरी करनी सिखा, पढ़ाई करके हम क्या पाने वाले है? एक बार तो भाड़ गाँव के लोग चोरी सिखलाने हेतु पिताजी के पास मुझे मांगने आए। कहने लगे 'मार्तड', लक्ष्मण को हमारे गिरोह में भिजवा दें, साल भर में उसे चोरी करने के काम में तैयार कर देंगे। तेरे घर में खुशियाँ लौटेगी। भरपूर कमाई हो जाएगी, पर मेरे बाबा ने पक्का तय कर लिया था कि लक्ष्मण को पढ़ाना ही है। बाबा इस मामले में किसी की भी सुनने को तैयार नहीं था। इसलिए मैं पढ़ सका। नहीं तो मैं आज 'चोर' रूप में ही मुँह छिपाकर जीता।"

(उठाईगीर पृ0 32)

ऐसे कई उदाहरण लगभग सभी आत्मकथाओं में भरे पड़े हैं। ये जीवन प्रसंग इन दलित लेखकों के शिक्षा के प्रति उनके रूझान को तो व्यक्त करते ही है, साथ ही, दलितों में समुचित शिक्षा का प्रचार–प्रसार न होने के कारणों का भी रेखांकित करते है। आज भी दलितों में अशिक्षा की मुख्य वजह उनका आजीविका के लिए अन्य माध्यमों की तरफ मुड़ जाना ही है। भारत सरकार द्वारा विभिन्न समयों पर इस सम्बन्ध में कराए जाने वाले सर्वेक्षण भी यही निष्कर्ष प्रस्तुत करते है कि दलितों में बीच में पढ़ाई छोड़ने की मुख्य वजह उनका रोजी–रोटी के लिए छोटे–मोटे रोजगारों की तरफ झुक जाना है। इन स्थितियों में हम अंदाजा लगा सकते हैं कि आज से 50, 60 वर्ष पहले दलित लेखकों को पढ़ने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा होगा।

शिक्षा प्राप्ति के दरम्यान हुए संघर्षों को ब्राह्मणवाद की पृष्ठभूमि में समझने के प्रति हमारा आशय यह है कि ये दलित लेखक शिक्षा प्राप्त करते हुए कहीं न कहीं ब्राह्मणवाद पर भी चोट कर रहे थे। जैसा कि हमने पहले कहा है कि स्वामित्व के लिए ही इस व्यवस्था का उदय हुआ और वह स्वामित्व शिक्षा के क्षेत्र में भी था इसलिए इन लेखकों ने शिक्षा प्राप्ति की प्रक्रिया में इस स्वामित्व को भी चुनौती दी है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश दलित साहित्यकार ब्राह्मणवाद की आलोचना करने के क्रम में उसके भौतिक आधारों की पहचान करना भूल जाते हैं/उनकी नज़र में दलितों की दयनीय अवस्था, ईश्वर, हिन्दू धर्म, पुनर्जन्म, कर्मफल, मूर्तिपूजा अंधविश्वास आदि में विश्वास की वजह से है। लेकिन हमें लगता है कि यह सब ब्राह्मणवादी आधार की अधिरचना है। ब्राह्मणवाद इन सब पर आश्रित नहीं है, बल्कि ये सब उस पर आश्रित है। ब्राह्मणवाद का आधार है– शिक्षा, शस्त्र एवं सम्पत्ति पर स्वामित्व। इन पर एकाधिकार। इनकी उपलबधता अनुपलब्धता ही किसी व्यक्ति या समाज की दयनीय अवस्था का कारण हो सकती है। क्योंकि यही उसकी भौतिक स्थिति में परिवर्तन ला सकती है। जैसे यदि किसी अशिक्षित को यह समझाया जाय तुम्हारे दुःख का कारण पूर्वजन्म में किए गए तुम्हारे कर्मों का फल है तो अधि क संभावना है कि वह इस बात को स्वीकार कर ले। यही किसी शिक्षित व्यक्ति को आसानी से नहीं समझाया जा सकता। वह तर्क कर सकता है एवं इसे मानने से इंकार कर सकता है।

इसलिए शिक्षा प्राप्ति के लिए दलित लेखकों के किए गए संघर्ष को ब्राह्मणवाद के प्रसंग में रेखांकित करना जरूरी हो जाता है।

आत्मसम्मान एवं अस्मिता के लिए संघर्ष

शिक्षा–प्राप्ति के लिए किए गए संघर्ष के बाद इन आत्मकथाकारों द्वारा आत्मसम्मान एवं अस्मिता के लिए किए गए संघर्ष को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। हम सब जानते हैं कि भारतीय समाज की एक 'खासियत' यह भी है कि यहाँ किसी व्यक्ति का अस्तित्व उसकी जाति से निर्धारित होता है और जाति उसके जन्म से ही निर्धारित होती है। इस पर उस व्यक्ति विशेष का कोई वश नहीं है। कुछ जातियों में पैदा होने वाले जन्म से ही कुछ अतिरिक्त सम्मान के हकदार हो जाते हैं एवं कुछ जन्म से ही अपमान, उपेक्षा एवं तिरष्कार के। दलित जातियों में पैदा होने वाले इन आत्मकथाकारों को जन्म से ही अपमान, उपेक्षा, तिरस्कार आदि का हकदार होना पड़ा है।

इस दुःखद स्थिति से जूझने का प्रयास ये आत्मकथाकार बराबर करते रहते हैं। आत्मसम्मान पाने की कोशिश करते रहते हैं। आत्म सम्मान पाने का इनका तरीका भले ही अलग–अलग है। फिर भी उनकी आकांक्षा यही है कि समाज उन्हें भी यथोचित सम्मान दे। इस प्रक्रिया में सबसे कारुणिक प्रयास 'यादों के पंक्षी' के लेखक प्र0 ई0 सोनकांबले का है। उनकी माँ उनके बचपन में ही मर गई थी। उन्होंने अपनी बहन के पास रहकर पढ़ाई की। इस दरम्यान उनका यह हमेशा प्रयास रहता था कि स्वयं फटेहाल रहकर भी दूसरों का अधिक से अधिक काम कर दें। इसलिए वे अपनी क्षमता से

तीन–चार गुणा अधिक काम करते थे। किसी के खेतों में काम करना, जानवरों की देखभाल करना, या इसी तरह के शारीरिक श्रम वाले अन्य कई काम करते थे ताकि उन्हें लोग कामचोर न समझें। उन्हें यथोचित खाना और स्नेह दें। यही नहीं प्राध्यापक बनने के बाद भी जब वे गाँव जाते हैं तब कृतज्ञतावश गाँव के सवर्णों के यहाँ भी मिलने जाते हैं। फिर भी वे सवर्ण उनके साथ अच्छे ढंग से नहीं पेश आते। उनके साथ छुआछूत बरतते हैं।

'अक्करमाशी' में भी आत्मसम्मान के लिए त्रासद, छटपटाहट मिलती है। लेखक शरण कुमार लिंबाले अपनी विडम्बनापूर्ण स्थिति से ममहित हो चीत्कार कर उठते हैं। "मेरी माँ अछूत तो पिता सवर्ण। माँ झोपड़ी में, पिता कोठी में। पिता जमींदार, माँ भूमिहीन। और मैं अक्करमाशी। गाँव, भाषा, माँ, पिता, जाति धर्म इन सभी दृष्टियों से मैं खंडित हूँ। गुमशुदा व्यक्तित्व लिए जीने वाला..... मेरे अस्तित्व को 'जारज' कहकर सतत् अपमानित किया गया है।"– (अक्करमाशी पृ0 7) यह अपमान का दंश उन्हें हमेशा परेशान किए रहता है। उनके लिए विडम्बनापूर्ण स्थिति पैदा करता रहता है।

'जूठन' में भी ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जिसमें उन्हें दलित जाति का हाने के कारण अपमान, तिरस्कार यहाँ तक कि पिटाई भी सहन करनी पड़ी है।

ये समी आत्मकथाकार इन दुखद स्थितियों से मुक्ति के लिए अलग–अलग स्तर पर तो प्रयास करते ही है। साथ ही, उन अपमानजनक घटनाओं को आत्मकथा के रूप में पूरे समाज के सामने लाकर घृणित मानसिकता रखने

वाले जातिवादी लोगों को भी कटघरे में खड़ा करते है। उनमें अपराध बोध पैदा करते हैं। ये आत्मकथाकार उन्हें यह भी सोचने पर विवश करते है कि उनकी उपेक्षा एवं तिरस्कार किसी को, किस हद तक मर्माहत कर सकती है। उसे चोट पहुँचा सकती है। यह भी इन आत्मकथाओं का एक वैशिष्ट्य है।

भारतीय गाँवों की सही तस्वीर प्रस्तुत करना

हमारे बौद्धिक वर्ग में भारतीय गाँवों के प्रति एक खास तरह की खुशफहमी, एक आदर्शवादी धारणा पाई जाती है। भारतीय गाँव ऐसे होते हैं, भारतीय गाँव वैसे होते हैं। भारतीय गाँव ईश्वर की सुन्दर कृति हैं। भारतीय गाँवों में मानवीय संवेदनाएँ सुरक्षित रहती है। आपसी सम्बन्ध प्रगाढ़ होते है, आदि खुशफहमियाँ सुनने को मिलती रहती है। 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' अथवा 'भारतमाता ग्रामवासिनी' आदि काव्य पंक्तियाँ भी इसी धारणा को पुष्ट करती है। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति– जिसके लिए मानवीय संवेदनाओं की कोई अहमियत नही– ने भी इस धारणा को बल प्रदान किया है। बहरहाल यह अवश्य है कि भारतीय गाँवों के सम्बन्ध में एक आदर्शवादी धारणा हमारे मानस से विद्यमान कराई जाती है। लेकिन इन दलित आत्मकथाओं से गुजरते हुए यह अहसास होता है कि भारतीय गांवों के सम्बन्ध में हमारी यह समझ कितनी खोखली है। इन आत्मकथाकारों को गाँव का परिवेश बहुत ही कटू एवं मानवीय संवेदनाओं से रहित लगता है। जहाँ अस्पृश्यता, ऊँच–नीच आदि का अधिक वर्चस्व है। इसलिए इन लेखकों को गाँव की तुलना में शहर का माहौल अच्छा लगता है। लगभग सभी लेखक शहर के माहौल की प्रशंसा

करते है। 'अछूत' के दयापवार, बचपन में गाँव के सहपाठियों द्वारा छुआछूत बरतने के कारण तालुके के सवर्ण लड़कों से दोस्ती जोड़ते हैं। (पृ० 74) आगे बम्बई के बारे में वे लिखते हैं कि – "बम्बई भूलना वैसे भी संभव न था। यह शहर मुझे मुक्ति का शहर लगता।" (पृ० 112) 'यादों के पंछी' के सोनकांबले कहते है– "परन्तु दीदी के गाँव में मराठी बोली जाती थी। गाँव का नाम था चेरा, जो अहमद पुर तालुके के निकट था। इस कारण वहाँ के लोगों के रहन–सहन, आचार–व्यवहार में मेरे अपने गाँव के लोगों की तुलना में काफी अंतर था। आयु के अनुसार बूढ़े अछूत को भी वहाँ आदर के साथ संबोधित किया जाता था। (पृ० 10) पराया' के लक्ष्मण माने भी तालुके के स्कूल में कुछ नयापन महसूस करते है – "पर लड़के अच्छे लगते यहाँ, कोई कैकाड़ी की औलाद, मैकाड़ी, हयकाड़ी इस तरह न चिढ़ाता। बस इतना ही संतोष था।. .....तिरस्कृत व्यवहार की अपेक्षा स्कूल में अच्छा लगता।" (पृ. 67) अपने अपने पिंजरे' के मोहनदास नैमिशराय भी बम्बई के बारे में लिखते है। "बम्बई में भूख थी, गरीबी थी और बेरोजगारी थी, लेकिन आदमी आदमी के बीच जातियों की दीवारें न थी। मुझसे कभी किसी ने मेरी जात न पूछी थी। मेरे शहर का नाम अवश्य पूछा था। पर मेरा धर्म न पूछा था। लोगों की जैसे यह सब पूछने की जरूरत ही न थी। पहली बार मुझे अच्छा लगा था।" (पृ० 136) ये सभी उदाहरण भारतीय गाँवों के सम्बन्ध के स्थापित आदर्शवादी धारणा को ही खंडित करते है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या शहर दलितों को वह सभी

सुविधाएँ मुहैया करा पाता है जिनसे वे गाँवों में वंचित रहते है। निःसन्देह शहर ऐसा नहीं करता। लेकिन शहर उन अपमानजनक स्थितियों से भी दलितों को भरसक बचाने का प्रयास करता है, जिनका अनुभव में गाँवों में करते है। शहर सभ्यता का एक आवरण ओढ़े रखता है। यह आवरण शहर को प्रत्यक्ष रूप से असभ्य होने से बचाता है। अभिप्राय यह कि शहरों में किसी को अपवादस्वरूप ही जातिगत कारणों से अपमानित होना पड़ सकता है। ऐसी बात नही है कि शहरों में असमानताएँ नही होती। असमानताएँ वहाँ भी होती है। लेकिन उनका स्तर गाँवों की तरह छिछला नहीं बल्कि सूक्ष्म एवं 'परिष्कृत' होता है। इसके अतिरिक्त शहरों में व्यक्तियों की व्यस्तताएँ इतनी अधिक होती है कि कोई दूसरों के मामले में कम ही दिलचस्पी ले पाता है। यहाँ संबंध बनते है तो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को ध्यान में रखकर, जिसमें दूसरे की असुविधा से अपना हानि–लाभ भी जुड़ा रहता हैं। जबकि, गाँवों में कुछ निठल्ले जिनका स्वयं का काम कोई और करता है– अपना हुक्का–पानी लेकर दूसरों की टाँग खींचने में संलग्न मिल जाऐंगे। इसके अतिरिक्त, शहर रोजगार की सुविधाएँ भी मुहैया कराता है जोकि गाँवों में कम संभव होती है, इसलिए दलितों को शहर अच्छा लगता है, सारी विषमताओं के बावजूद।

दलित सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण में सहायक

इन आत्मकथाओं के प्रसंग में ही इस पर भी विचार कर लेना उचित होगा कि दलित आत्मकथाएं दलित सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण में किस तरह सहायक हो सकती है।

अक्सर यह सवाल उठाया जाता है कि दलित साहित्य का अलग सौन्दर्यशास्त्र होना चाहिए। प्रस्थापित एवं पारंपरिक सौन्दर्य शास्त्र से इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता या इसको नहीं समझा जा सकता। यह सवाल अधिकतर दलित साहित्यकारों द्वारा उठाया जाता है। दलित साहित्यकार, दलित साहित्य की गैर दलित आलोचकों द्वारा की गई आलोचना का इसी तर्क से नकारते है कि वे (गैर दलित आलोचक) प्रस्थापित सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टिकोण से दलित साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। इसलिए यहाँ यह भी विचारणीय है कि दलित साहित्य के लिए अलग सौन्दर्य शास्त्र की जरूरत है या नहीं।

किसी साहित्य के निमित्त कोई सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान कैसे गढ़े जाते है? कैसे व्यवहार में लाए जाते है? यह प्रश्न लंबी बहस की मांग करता है जो कि यहाँ संभव नहीं है। फिर भी संक्षेप में हम अपनी राय तो दे ही दे सकते हैं। हमें ऐसा लगता है कि सौन्दर्य शास्त्रीय प्रतिमान देश काल, वातावरण के साथ–साथ तत्कालीन बौद्धिक वर्ग की अभिरूचियों, उसकी इच्छा-अनिच्छाओं को ध्यान में रखकर गढ़े जाते है। इन प्रतिमानों के निर्माण में अपने समय और समाज का गहरा दबाव तो रहता ही है साथ ही बौद्धिक वर्ग की मानसिकता एवं उसके परिवेश का भी अधिक दबाव रहता है। हालांकि यह दबाव हमेशा समानान्तर नही होता। अपने समय और समाज तथा बौद्धिक वर्ग की अभिरूचियों का एक सा दबाव प्रतिमानों के निर्माण में सहायक नहीं होता। क्योंकि, प्रतिमानों का नियंता अन्ततः बौद्धिक वर्ग होता है। यह बौद्धिक वर्ग

अपने समय और समाज से किस हद तक जुड़ा है, प्रतिमानों के निर्माण में यह भी महत्व रखता है। यदि बौद्धिक वर्ग अपने समय और समाज से गहरे स्तर पर नहीं जुड़ा है तो उसके प्रतिमान भी अधूरे एवं एकांगी होंगे। जैसा कि भारतीय काव्य शास्त्र में 'आनन्द' बहुत दिनों तक एक प्रमुख प्रतिमान बना रहा। यह धारणा बनी रही कि जिस कलाकृति को पढ़कर ज्यादा आनंद की अनुभूति होगी, वही उत्कृष्ट है। लेकिन यह प्रतिमान चंद बौद्धिकों की अभिरूचियों को तो अभिव्यक्त करता है, अपने समय और समाज की अभिरुचियों को कम ही व्यक्त कर पाता है। इस प्रतिमान से साहित्य के प्रति चन्द बौद्धिकों के नजरिए का अनुमान तो लगाया जा सकता है लेकिन युगीन यथार्थबोध को लक्षित नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय के अधि कांश लोगों का यही नज़रिया था। एक विशेष बौद्धिक वर्ग से अलग समाज के अन्य तबके का साहित्य के प्रति अलग दृष्टिकोण भी हो सकता है। इसलिए जैसे–जैसे समय और समाज का दबाव साहित्य पर पड़ता है या साहित्य से अन्य साहित्येत्तर अपेक्षाएँ जुड़ती है, बौद्धिक वर्ग का अपने समय और समाज से जुड़ाव गहरा होता है, वैसे – वैसे प्रस्थापित सौन्दर्य शास्त्रीय प्रतिमानों की आलोचनात्मक पड़ताल एवं नए प्रतिमानों के निर्माण की प्रक्रिया भी आरंभ होती है। हम देख सकते है कि स्वाधीनता आंदोलन के समय 'साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास कहा गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लोकमंगल एवं लोकधर्म जैसे नए प्रतिमान गढ़े। विश्व–परिदृश्य पर साम्यवादी आंदोलनों के उभार के साथ शोषितों मज़दूरों को ध्यान में रखते

हुए प्रतिमान गढ़े गए। इन प्रतिमानों की प्रासंगिकता बनाए रखने के लिए उनके अनुकूल समय और समाज से उद्धरण भी लिए गए। यह सब उस समय के बौद्धिक वर्ग के द्वारा अपने समय और समाज से जुड़ने के महत्व को दर्शाता है।

इन प्रतिमानों की निर्मित्ति में अपने समय और समाज के उस सच को भी स्वीकार किया गया, जिसका अस्तित्व तो था लेकिन वह विमर्श से लगभग बाहर था। आशय कि हमारे सामने जैसे–जैसे सच उजागर होते जाता हैं, तो नए प्रतिमानों की जरूरत भी महसूस होती है। दलित आत्मकथाओं ने भी अब तक के लगभग उपेक्षित सच को विमर्श में लाने का काम किया है, जो नए प्रतिमानों के जरूरत की मांग करता है।

दलित आत्मकथाएँ जिस दलित समाज का परिचय, अपनी भाषा संस्कृति, रहन–सहन एवं दयनीय स्थिति के साथ– समाज के तथाकथित मुख्यधारा से करा रही है, वह सब भी यह संकेतित करता है कि उसकी अपनी वास्तविकताओं के स्वीकार के साथ ही प्रतिमान गढ़े जाएं। दलित समाज का परिवेश, उसके दैनिक जीवन को प्रभावित करने वाले तत्व, गैर दलित समाज का उसके प्रति किया गया संवाद आदि को ध्यान में रखकर ही प्रतिमान गढ़े जाएँ। आशय कि गालियाँ यदि दलितों के दैनिक जीवन का अंग है तो साहित्य में उसकी उपस्थिति से भी इन्कार नहीं किया जा सकता, नाक–भौं नहीं सिकोड़ा जा सकता। यदि दलितों की जिन्दगी का अधिकांश हिस्सा दुःख तकलीफ में बीतता हैं तो उसके लिए आनंद या हास्य के प्रतिमान नहीं बनाए जा सकते।

इसलिए दलित आत्मकथाओं द्वारा उद्घाटित सत्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्थापित सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमानों की पड़ताल एवं नए प्रतिमानों की निर्मित्त हो सकती है।

आलोचकीय टिप्पणियां की पड़ताल

दलित आत्मकथाओं के सन्दर्भ में विभिन्न आलोचकों ने अपनी कुछ टिप्पणियाँ दी है, जिनकी पड़ताल जरूरी है।

1. दलित आत्मकथाओं के सन्दर्भ में अपनी राय व्यक्त करते रवीन्द्र वर्मा लिखते है– "दलित आत्मकथा की रचना प्रक्रिया में कला का दूसरा क्षण गायब है। अर्थात्, निजी अनुभव का एक व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आकंलन नहीं है। न ही रचना दृष्टि का उत्प्रेरक कोई बड़ा सामाजिक मुक्ति का स्वप्न है।"[5] स्पष्ट है, वर्मा जी दलित आत्मकथाओं से दो अपेक्षाएँ रखते है। एक, निजी अनुभव का उसके मूलों से उच्छेदन तथा दूसरा उस अनुभव का व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आंकलन। यदि वर्मा जी की बात मानी जाय तो दलित आत्मकथाकारों को अपने जातिगत अपमान, उपेक्षा, तिरष्कार (निजी अनुभव) को भूल जाना चाहिए एवं मूलों से उच्छेदन कीप्रक्रिया में ब्राह्मणवाद पर चोट नहीं करना चाहिए। उन्हें अपने अनुभव का व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आंकलन इस तरह करना चाहिए जैसे लगे कि उन्हें अपमानित करने से सवर्ण भी अपमानित महसूस करता है, सवर्णों को भी अपनी जाति गाली की तरह लगती है, वह भी भूखों मरता है, वह भी मज़बूरी में मरे जानवरों का माँस खाता है, वह भी वर्ण संकर है, उसकी स्त्रियों के

साथ भी दलित स्त्रियों की तरह व्यवहार होता है। यदि दलित साहित्यकार ऐसा करेगा तभी वह वर्मा जी नज़र में व्यापक दृष्टिकोण वाला कहलाएगा।

निजी अनुभव का उसके मूलों से उच्छेदन के सम्बन्ध में वर्मा जी से पूछा जा सकता है फिर इसके बाद फिर दलित साहित्य में क्या बच जाएगा? सच्चाई यह है कि दलित साहित्यकारों में ही नहीं इस समाज के हर चेतनाशील व्यक्ति में, उसके दलित होने का अहसास ही दलित चेतना की ताकत है। दलित चेतना, दलितों में दलित होने के अहसास से ही पैदा होती है। यदि कोई दलित यह भूल जाय कि वह दलित है, यद्यपि समाज उसे नहीं भूलता– वह यह समझने लगे कि वह मार्क्सवादी जनवादी, प्रतिक्रियावादी, या गांधीवादी है, तब वह दलित कहाँ रह जाता है? उसी तरह यदि कोई दलित साहित्यकार अपने जातिगत अपमान को भूल जाए, अपनी एवं अपने समाज की सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक या राजनैतिक हैसियत भूल जायें या उसे जानकर भी नज़रअंदाज करे, तब वह दलित साहित्यकार कहलाने लायक नहीं रहता? उसे इन सबका अहसास दलित साहित्यकार बनाता है। इसलिए हमें लगता है कि 'जूठन' में लेखक के पिता द्वारा उनके लिए कहा गया यह वाक्य – "बेटे, तू एक गरीब चूहड़े का बेटा है..... इसे हमेशा याद रखियो" (जूठन–पृ. ८२) दलित चेतना का बीज मंत्र है। प्रत्येक दलित में इसका अहसास उसे दलित चेतना से लैस करता है। अतः अपनी अस्मिता बोध के लिए अपने एवं अपने समाज के अस्तित्व का अहसास जरूरी है। इसके अभाव में दलित आत्मकथा लिखी ही नहीं जा सकती। दलित आत्मकथाओं, की

ईमानदारी, उसकी प्रामाणिकता, विश्वसनीयता सबकी कसौटी उसके लेखक में दलित होने का अहसास, उसके जातिगत अनुभव ही है।

'व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आकलन को वर्मा जी पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाए है। यदि इनसे यह अर्थ निकाला जाय कि दलित आत्मकथाकारों को, उनके निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति के कारण व्यापक समाज पर पड़ने वाले प्रभावों/कुप्रभावों को ध्यान में रखकर आत्मकथा, लिखनी चाहिए, तब भी वह संभव नहीं है, क्योंकि दलित साहित्य, प्रस्थापित समाज–व्यवस्था से अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष का एक माध्यम है। इसलिए वह जिस व्यवस्था से संघर्ष कर रहा है। उसके हानि लाभ की परवाह नही कर सकता। ऐसी स्थिति में 'व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य' तत्काल उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं है। वह भविष्य की बात हो सकती है। अभी तो स्वयं दलित साहित्यकार एवं उसका समाज हाशिए पर है। जब वह मुख्यधारा का अंग बन जाएगा, अपने अस्तित्व के साथ किसी निर्णायक भूमिका में आ जाएगा तभी वह व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य को भी समझ सकता है, उसकी चिन्ता कर सकता है। उसके परिप्रेक्ष्य में अपने निजी अनुभवों का आकलन कर सकता है। यदि अभी ही से वह ऐसा करने लगे तो जिस 'स्वानुभूति' एवं 'सहानुभूति' में वह स्वानुभूति' को प्राथमिकता दे रहा है, उसका शिकार वह खुद हो सकता है। इस चेतना से उसका 'व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य का आकलन दोयम दर्जे का होगा क्योंकि वह 'स्वानुभूति' से नहीं, सहानुभूति से लिखेगा।

वर्मा जी के अनुसार दलित आत्मकथाओं में रचना दृष्टि का उत्प्रेरक

कोई बड़ा सामाजिक मुक्ति का स्वप्न' नहीं है। वर्मा जी यहाँ भी स्पष्ट नहीं कर पाए है कि किसकी 'सामाजिक मुक्ति का स्वप्न' नहीं है? दलित समाज की मुक्तिका या उसके साथ–साथ गैरदलित समाज की भी मुक्ति का बहरहाल, हम दोनों स्थितियों को ध्यान में रखकर वर्मा जी की आपत्तियों पर विचार करेंगे। यदि उनका आशय दलितों की सामाजिक मुक्ति के स्वप्न से है, तब भी उनकी आपत्ति सही नहीं है। न केवल दलित आत्मकथाओं में बल्कि दलित साहित्य . तक में जो कुछ भी लिखा जा रहा है, सबके केन्द्र में दलित समाज की मुक्ति का ही स्वप्न है। दलित साहित्य जिस तरह दलित समाज के प्रति अमानवीय व्यवस्था तन्त्र की आलोचना करते हैं, उसके उनका अभिप्राय उस व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करना नहीं होता। वे अपनी हाशिये की स्थिति का 'पेटेन्ट' कराना नहीं चाहते। वे नहीं चाहते कि यह समाज व्यवस्था वैसी ही बनी रहे जैसी अब तक है। बल्कि वे इन सबमें परिवर्तन लाना चाहते है, उसमें दलित समाज के लिए सम्मानजनक जगह बनाना चाहते है। उस व्यवस्था का दलितों के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव लाना चाहते हैं। अपनी वर्तमान दासता की स्थिति से मुक्ति चाहते है। यद्यपि यह सही है कि दलित आत्मकथाओं में यह 'घोषणा–पत्र' के रूप में स्पष्टतः सामने नही आया है, फिर भी दलित आत्मकथाकार अपनी एवं अपने समाज की स्थिति का बयान करके, उससे मुक्ति का ही अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं। वे यह कभी नहीं चाहते कि उन्होंने जो भोगा है, जो अनुभव किया है, वह अगली पीढ़ी को भी भोगना पड़े। वे अपने अनुभव अगली पीढ़ी को इस उम्मीद से हस्तगत करते

हैं ताकि वह अपने अतीत को समझ कर भविष्य में मुक्ति की राह रोशन करें। इस सम्बन्ध में 'अछूत' के दया पवार लिखते हैं– "मैंने भी भूतकाल को पूरी तरह भूल जाने की कोशिश की। पर क्या इतनी सहजता से भूतकाल पोंछा जा सकता है? कुछ दलितों को यह कूड़ा–करकट बाहर उलीचने जैसा लगता है। परन्तु आदमी यदि अपना भूतकाल नहीं जानता तो वह अपना भविष्य भी तय नहीं कर सकता।" (अछूत पृ॰ 56) इसलिए वर्मा जी की यह आपत्ति सही नहीं है।

यदि वर्मा जी का आशय दलित समाज के साथ–साथ गैर दलित समाज की भी मुक्ति के स्वप्न से है, तब हम डॉ॰ श्यौराजसिंह बेचैन के शब्दों में यही कहेंगे कि – "दलित अपनी मुक्ति के साथ–साथ दूसरों की मुक्ति में भी विश्वास रखता है, किन्तु जिसके अपने ही पांव में बोझील बेड़ियाँ पड़ी हो तो वह कूद–कूद कर दूसरों की छाती के पत्थर नहीं उठा सकता।"[6]

2. दलित आत्मकथाओं के सम्बन्ध में दूसरी विवादास्पद टिप्पणी नामवर सिंह एंव परमानन्द श्रीवास्तव की है। नयापथ में प्रकाशित एक परिसंवाद में श्रीवास्तव जी, नामवर जी से पूछते है– "इधर मराठी के चलन पर हिन्दी दलित लेखकों द्वारा कुछ आत्मकथाएँ लिखी जा रही है। यहाँ भी विचार करना चाहिए कि क्या ये सचमुच 'आत्मकथाएं है या कि इनके भी कुछ 'टोटेम्स' बन गये हैं। जैसे जानवर के गोबर को धो–छानकर मिला हुआ अन्न खाना, जैसे कि वर्ण संकरता,

निजी परिस्थितियाँ कुछ नहीं है। लगता है एक ही तरह की घटनाएँ सारे लेखकों के जीवन में घट रही है।"[7] जबाव में नामवर जी कहते है–

जिस यथार्थ को पढ़ने पर रूढ़ि प्रतीत होने लगे, उसकी साहित्यिकता, रचनात्मकता संदिग्ध हो जाती है। और इस प्रकार संदिग्ध हो जाने के बाद आप चाहे रूढ़ियों के सहारे आत्मकथा लिखे या दलित साहित्य रचें, कुछ नहीं होगा। सब लोग मल्लिका उमरशेख या लिम्बाले या नारायण सुर्वे नही हो सकते। जैसे 'नयी कविता' के जमाने में बहुत 'दर्द–दर्द' चीखते हैं। समझ में नही आता था कि कौन सा दर्द आपको हो रहा है,काहे का दर्द है। ये रूढ़ियाँ' उसी तरह की है जैसे एक जमाने में अंधा युग, अन्धी गली, अन्धा ये, अन्धा वो– पूरी की पूरी पीढ़ी ही अन्धी।

प्रथमतः श्रीवास्तव जी ने जिन उद्धरणों को 'टोटेम्स' की संज्ञा देते हुए सभी आत्मकथाओं में जिनकी उपस्थिति स्वीकार की है, वह सरासर गलत है। गोबर से निकले अन्न को धो पौंछ कर खाने का जिक्र सिर्फ अक्करमाशी में है। वर्ण संकरता 'अक्करमाशी' के अलावा 'छोरा कोल्हाटी का' में है। रखैलपन इन दोनों के अलावा 'अछूत' में है। इसके अलावा अन्य किसी मराठी या हिन्दी की आत्मकथा में इनका उल्लेख नहीं है। इसलिए यह कहना गलत है कि एक ही तरह की घटनाएँ सबके जीवन में घटित हो रही है। हाँ, कुछ परिस्थितियाँ ऐसी है जो प्रायः सबमें पाई जाती है, जैसे विद्यालय में तिरस्कार,बहिष्कृत जीवन, जातिगत अपमान, मूर्दा जानवरों का माँस खाना आदि। लेकिन यह सब टोटेम्स नहीं है, बल्कि कड़वी सच्चाई है। यदि महाराष्ट्र के महार, चमार या मेहतर मुर्दा जानवरों को ढ़ोते हैं, उनका चमड़ा साफ करते है तो हिन्दी प्रदेश के चमार या मेहतर पुराहिती नहीं करते? वे भी वही करते है जो

महाराष्ट्र या अन्य किसी जगह की दलित जातियाँ करती है। इन सबकी सामाजिक स्थिति लगभग एक सी है, इसलिए कुछ घटनाएँ रूढ़ि होने का भ्रम देती है।

नामवर जी ने जिस यथार्थ को रूढ़ि समझ कर उसकी साहित्यिकता एवं रचनात्मकता को संदिग्ध बताया है, उसी आधार पर उनसे पूछा जा सकता है कि क्या वे रामकाव्य परंपरा एवं कृष्ण काव्य परंपरा की रचनाओं की भी साहित्यिकता एवं रचनात्मकता को संदिग्ध मान सकते हैं? फिर हिन्दी साहित्य की उन महत्वपूर्ण रचनाओं का क्या होगा जो पूर्ववर्ती साहित्य को उपजीव्य बनाकर रची गई है? जिनमें एक ही कथानक का कई बार दोहराव है।

वस्तुतः उनका यथार्थ– (यदि है तो) रूढ़ि बन गया है फिर भी नामवर जी उन महान् कृतियों की साहित्यिकता एवं रचनात्मकता पर प्रश्न नहीं करेंगे। दलित जीवन का कटु यथार्थ उनको रूढ़ि लग सकता है, किन्तु जिनमें यथार्थ मात्र का अंश नही उन रूढ़ियों की साहित्यिकता एवं रचनात्मकता को वे संदिग्ध नहीं मान सकते। बहरहाल नामवर जी ने अपनी इस टिप्पणी में दो बातों की पुष्टि की है। एक तो साहित्यिकता एवं रचनात्मकता वहीं सुरक्षित रह सकती है जहाँ यथार्थ नहीं हो। दूसरा, दलितों के दुःखदर्द को गैर दलित कभी नहीं समझ सकते, क्योंकि उनको 'समझ में नहीं आता कि कौन सा दर्द आपको (दलितों को) हो रहा है।

सीमाएँ और संभावनाएँ

प्रत्येक अच्छी रचनाओं के अपने अंतर्विरोध भी होते हैं। इसलिए उनके वैशिष्टय–निरूपण के साथ–साथ उनके अन्तर्विरोधों की पहचान एवं पड़ताल भी जरूरी होती है। यह पड़ताल विवेच्य रचनाओं को तो समृद्ध करती ही है, आने वाली रचनाओं के लिए भी उपयोगी होती है।

दलित आत्मकथाओं के भी अपने अन्तर्विरोध है। अपनी सीमाएँ हैं उनमें भी ऐसा कुछ है कि जिसे नहीं होना चाहिए। जिसे होना चाहिए, वह नहीं है।

1. विवेच्य दलित आत्मकथाओं में, आत्मकथाकारों के स्त्रियों से सम्बन्धित विभिन्न सम्बन्धों जैसे माँ, बहन, प्रेमिका, दोस्त, ताई आदि का यथोचित उल्लेख तो मिलता है लेकिन पत्नियों का उल्लेख लगभग नदारद है। इन लेखकों ने अपनी माँ, बहन, ताई, प्रेमिका आदि का अपने जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख तो किया है लेकिन उनकी पत्नियों का, उनके जीवन में, उनके संघर्ष में क्या योगदान रहा है? इसका उल्लेख वे लगभग नहीं करते। सिर्फ एक ही लेखक ने ही इन्हें समुचित स्थान दिया है। उठाईगीर के लेखक लक्ष्मण गायकवाड़ ने अपनी पत्नी छबू ताई द्वारा, उनके जीवन संघर्ष में किए गए सकारात्मक योगदान का उल्लेख किया है। छबू न केवल विपरीत परिस्थितियों में अपना घर संभालती है बल्कि बराबर उनको संघर्ष से जूझने की प्रेरणा भी देती है। जब उनकी नौकरी छूट जाती है तब

वह दुकान चलाकर अपने परिवार का भरण–पोषण तो करती ही है, उनको सामाजिक कार्यों में लगे रहने के लिए निश्चित भी करती है। गायकवाड़ जी ने अपनी पत्नी के इस योगदान को बहुत ही आत्मीयतापूर्वक अभिव्यक्ति दी है। लक्ष्मण माने ने भी, विपरीत परिस्थितियों में साथ देने वाली अपनी सवर्ण पत्नी शशी को बहुत ही आत्मीयतापूर्वक स्थान दिया है। शशी एक धनी परिवार की एवं सवर्ण होने के बावजूद उनसे अन्तर्जातीय विवाह करती हैं एवं भयंकर गरीबी के साथ–साथ बिरादरी के कठोर दण्डों को भी सहन करने में माने का साथ देती है।

अन्य आत्मकथाकार ऐसा नहीं कर पाए हैं। यहाँ हम इस बात को नज़रंदाज नहीं कर रहे है कि सबकी परिस्थितियाँ, जीवन की घटनाएँ एक सी नहीं होती, फिर भी विवेच्य सभी लेखकों की पत्नियाँ है, अच्छा खासा परिवार है। सुखमय विवाहित जीवन भी है। इसके बावजूद उनकी आत्मकथाओं से उनकी पत्नियाँ लगभग अनुपस्थित हैं। दया पवार तो अपनी पढ़ी लिखी पत्नी के प्रति एक खास तरह का दृष्टिकोण रखते हैं। उन्होंने 'अछूत' में कई जगह ऐसा लिखा है कि उनकी पढ़ी–लिखी पत्नी को यह गवारा नहीं कि वे अपने निर्धन सम्बन्धियों से कोई सम्बन्ध रखें। अगर यह सही है तब भी यह लेखक की असफलता ही कही जाएगी कि वे अपनी पत्नी को, अपनी चेतना एवं अपने समाज से नहीं जोड़ सके।

दलित आत्मकथाकारों द्वारा अपनी पत्नियों को इस तरह नजरअंदाज करने की प्रवृत्ति कही– न–कहीं यह भी संकेतित करती है कि दलित स्त्रियाँ,

स्वयं दलित समाज में भी दोहरा अभिशाप झेल रही है। वे दलित चेतना के प्रतिनिधि लेखकों द्वारा भी उपेक्षित है। यह प्रवृति चिन्ताजनक है, क्योंकि दलित साहित्यकार पूर्ववर्ती साहित्य में अपनी जिस अनुपस्थिति की बात करते है, भविष्य में दलित स्त्रियाँ भी दलित आत्मकथाओं में अपनी अनुपस्थिति पर सवाल कर सकती है।

2. जैसा कि पहले कहा गया है कि आत्मकथा एक सोद्देश्य विद्या है। इसमें आत्मकथाकार का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। इस उद्देश्य के अनुकूल वह विगत जीवन के अनुभवों को छाँटता है। सामान्य अनुभवों को किनारे कर वह अधिक से अधिक विशिष्ट अनुभवों का संयोजन अपनी आत्मकथा में करता है। इसे ही चयन का विवेक कहते है। आत्मकथा में यह विवेक बहुत ही निर्णायक होता है। दलित आत्मकथाओं से तो इस विवेक की कुछ ज्यादा ही माँग होती है। क्योंकि ये कुछ वृहत्तर उद्देश्यों को लेकर चलती हैं।

इन आत्मकथाओं में कई ऐसे प्रसंग है जिनसे लगता है लेखक इस विवेक का निर्वाह नहीं कर पाया है। जैसे– 'अछूत' में एक प्रसंग है जिसमें लेखक ने तालुके के स्कूल में सोते वक्त एक मराठे लड़के द्वारा उनके लिंग से किए गए हरकत का उल्लेख किया है। (अछूत पृ0 76) अक्करमाशी में भी लिंबाले एक जगह लिखते है– "माँ नागी, निरमी खुल में नहाती। मेरे सामने ही कपड़े बदलती। पहनती। माँ और बहनों का नंगा शरीर देखना पड़ता। साड़ी पहनते समय माँ की जाँघ दिखती।" (अक्करमाशी पृ0 103) जूठन,

अपने–अपने पिंजरे, पराया, उठाईगीर आदि अन्य आत्मकथाओं में भी कई ऐसे प्रसंग है जिसमें लेखकों ने यह उल्लेख किया है कि गाँव की सवर्ण औरतें उनके घरों के आस–पास शौच के लिए आती थी।

यह सच है कि ये घटनाएँ वास्तविक है, लेकिन इन सबका दलित चेतना से क्या सम्बन्ध है? इन घटनाओं की अभिव्यक्ति से लेखक किस उद्देश्य पूर्ति की आकांक्षा रखता है? यह समझ में नहीं आता। ये घटनाएँ सिर्फ जुगुप्सा ही पैदा करती हैं। अतः इनके उल्लेख से बचने का प्रयास इन आत्मकथाकारों को करना चाहिए था।

3. इन आत्मकथाओं को पढ़ने से लगता है कि आत्मकथाकारों के जीवन में सिर्फ दुःख ही दुःख है। सुख का या ऐसे किसी क्षण का जो जीवन के प्रति आकर्षण, रूचि पैदा करते है, उनका नामोनिशान तक नहीं है। ऐसा नहीं है कि इनके जीवन में ऐसा अवसर आया ही न हो। ऐसे अवसर अवश्य आए होंगे। यह सही है कि दलित जीवन का अधिकांश भाग दुःखमय रहता है। फिर भी इसमें ऐसी स्थितियाँ अवश्य आती है जो जीने के प्रति चाहत पैदा करती है, संघर्षों से जूझने के बावजूद आशा की किरण दिखाती है। अगर ऐसा नहीं होता तो ये लेखक किसी बेहतर स्थिति को प्राप्त भी नहीं करते। इसलिए उन क्षणों का, जीवन प्रसंगों का उल्लेख न होना इन आत्मकथाओं को एकांगी बनाता है।

4. ये आत्मकथाकार जिस ब्राह्मणवादी व्यवस्था के शिकार हुए है, उस व्यवस्था के विरोध के लिए इन लेखकों द्वारा किए गए किसी साहित्येतर

प्रयासों का उल्लेख इन आत्मकथाओं में कम ही दिखता है। साहित्येतर प्रयासों से मेरा आशय राजनीतिक, सामाजिक कार्यों में, आंदोलनों में इनकी सक्रियता से, भागीदारी से है।

इन आत्मकथाओं के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ये लेखक किसी राजनीतिक या सामाजिक आंदोलनों में सक्रिय रहे है। मराठी में तो एक दो उदाहरण मिल भी जाएंगे, हिन्दी में अभी नहीं है।

इन आत्मकथाकारों से ऐसी उम्मीद 'कुछ अतिरिक्त' नहीं कहीं जा सकती क्योंकि जब हम दलित साहित्य को 'सामाजिक परिवर्तन का साहित्य' मानते हैं, तब ऐसी उम्मीद अवश्यंभावी है।

संदर्भ

1. जूठन — ओमप्रकाश वाल्मीकि, भूमिका से

2. अक्करमाशी की जन्मपत्री — शरण कुमार लिंबाले
   हंस मार्च 1994, पृ० 36

3. दलित आत्मवृत सामाजिक व्यथा के दस्तावेज: — प्रभाकर नारायण परांजये, संचेतना, दिस० 1981 पृ० 46

4. विश्वासघात — चन्द्रभान प्रसाद, पृ. 234

5. दलित आत्मकथा और उपन्यास— रवीन्द्र वर्मा; हंस
   नवम्बर 95 पृ० 55

6. दलित साहित्य सही जगत की तलाश (परिसंवाद)
   डॉ० श्यौराजसिह बेचैन, कल के लिए, दिसम्बर 98 पृ० 62

7+8 दलित चेतना और दलित साहित्य (परिसंवाद) नयापथ (सं०)
   शिवकुमार मिश्र जनवरी 1998

तीसरा अध्याय

'जूठन': यथार्थ बोध, संवेदना और शिल्प

- यथार्थ बोध
- संवेदना और शिल्प
- कुछ अन्तर्विरोध

हिन्दी भाषी क्षेत्र में दलित संवेदना को अपनी सर्जनात्मकता से साहित्य में प्रतिष्ठित करने वाले कुछ लोगों में ओमप्रकाश वाल्मीकि एक सुपरिचित नाम है। बाल्मीकि जी उन गिने–चुने लोगों में से हैं जिन्होंने अपनी कविता, कहानी, आत्मकथा आदि के माध्यम से दलित – संवेदना से हिन्दी भाषी समाज को परिचित कराया है।

इनका जन्म 30 जून 1950 को बरला, मुजफ्फर नगर, उ0 प्र0 में दलित जाति में हुआ था। ये बचपन से ही विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए, जीवन के खट्टे–मीठे अनुभवों का सामना करते हुए आजकल देहरादून जबलपुर में भारत सरकार के रक्षा मंत्रालय (उत्पादन विभाग) के संस्थान में अधिकारी पद पर कार्यरत हैं।

वाल्मीकि जी के अब तक दो काव्य–संग्रह 'सदियों का संताप' एवं 'बस्स! बहुत हो चुका' तथा विवेच्य आत्मकथा 'जूठन' प्रकाशित हो चुके हैं। उनका कहानी–संग्रह 'सलाम भी जल्द ही प्रकाशित होने वाला है। उनकी कई रचनाएँ अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, उर्दू आदि में अनुदित एवं प्रकाशित हुई हैं। उनकी आत्मकथा 'जूठन' का हाल ही में पंजाबी में द्वारका भारती राजू ने अनुवाद किया है। 'जूठन' का अंग्रेजी अरुणा प्रभा मुखर्जी अनुवाद भी शीघ्र प्रकाशित होने वाला है।

वाल्मीकि जी को डॉ0 अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार (1993) एवं परिवेश सम्मान (1995) से सम्मानित किया गया है। अभिनय एवं निर्देशन के लिए भी इनको दर्जनों पुरस्कार मिल चुके हैं। ये अनेक साहित्यिक, सामाजिक

संस्थाओं से जुड़े हुए हैं। ये प्रथम हिन्दी दलित लेखक साहित्य सम्मेलन नागपुर (1993) के अध्यक्ष रहे हैं। इन्होंने 'प्रज्ञा–साहित्य' के दलित साहित्य विशेषांक का अतिथि–संपादन भी किया है।

वाल्मीकि जी की कविताएँ उनके व्यापक अनुभव संसार को अभिव्यक्त करती है। उनकी कविताओं में जहाँ दलित जीवन के दग्ध–अनुभव है, वहीं दलित–विमर्श के गंभीर एवं सूक्ष्म विश्लेषण भी हैं। उनकी कविताओं ने दलित साहित्य को एक विशिष्ट आयाम दिया है। 'बस्स! बहुत हो चुका' कविता संग्रह दलित साहित्य की ऐसी कृति हैं जो उसे एक ऊँचाई प्रदान करती है। 1989 में प्रकाशित उनके काव्य संग्रह 'सदियों का संताप' को भी दलित कविताओं की समग्र–चेतना के रूप में पाठकों एवं समीक्षकों ने सराहा है। साथ ही, वाल्मीकि जी अपनी गंभीर साहित्यिक टिप्पणियों के लिए भी चर्चित रहे हैं।

वैसे तो, वाल्मीकि जी की कहानियाँ एवं कविताएँ भी अलग से विवेचन विश्लेषण की माँग करती है, लेकिन यहाँ हमारा अभीष्ट उनकी आत्मकथा का ही विवेचन विश्लेषण करना है इसलिए हम उनकी आत्मकथा 'जूठन' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

जब हम एक साथ कई आत्मकथाओं पर बात करते हैं, तब हमें उन आत्मकथाओं में कुछ सामान्य सूत्र निर्दिष्ट करने पड़ते हैं, जिनका परस्पर सम्बन्ध उन आत्मकथाओं से बनता है। पिछले अध्याय में हमने 'दलित आत्मकथाओं के वैशिष्टय' पर चर्चा करते हुए इसी पद्धति का सहारा लिया है। लेकिन जब हम किसी खास आत्मकथा को केन्द्र में रखकर उसका

मूल्यांकन करते हैं, तब हमें दो पद्धतियाँ अपनानी पड़ती है। एक तो आत्मकथा में व्यक्त विशिष्ट अनुभवों को व्याख्यायित–विश्लेषित किया जाय, दूसरे इन अनुभवों के प्रति आत्मकथाकार के दृष्टिकोण की पड़ताल की जाय। आत्मकथाकार अपने आत्म–संघर्ष को, अपने जीवन की घटनाओं को किस नज़रिए से देखता है, उसकी पड़ताल की जाय।

यहाँ हम दूसरी पद्धति का सहारा लेंगे। ऐसा संभव है कि आत्मकथा में व्यक्त लेखक के अनुभव दूसरे लोगों के अनुभव से भी मेल खाते हों, लेकिन जीवन–प्रसंगों को देखने का नज़रिया, उसका नितान्त अपना होता है। वह उसके लिए स्वयं जिम्मेवार होता है। इसलिए उसकी आलोचना प्रत्यालोचना का केन्द्र (लेखक) भी निश्चित होता है।

'जूठन' के विभिन्न महत्वपूर्ण प्रसंगों का अधिकांश हिस्सा वाल्मीकि जी के शैक्षणिक जीवन की परिस्थितियों पर केन्द्रित है। बचपन से ही स्कूल जीवन में जिन शिक्षकों से उनका पाला पड़ता है, उससे उनके मन में बनी 'आदर्श शिक्षक' की धारणा खंडित हो जाती है। वे लिखते हैं "अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब भी कोई आदर्श गुरु की बात करता है, तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो माँ–बहन की गालियाँ देते थे। सुन्दर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपना करते थे।" (जूठन पृ0 14)

अध्यापकों के सम्बन्ध में वाल्मीकि जी की ऐसी धारणा बनने के पीछे कुछ कटु प्रसंग है जो उनके शैक्षणिक जीवन में घटित हुए हैं। बचपन में

उनके पिता द्वारा कई दिनों तक स्कूल के चक्कर काटने के बाद उनका दाखिला मिलता है। जबकि स्थिति यह है कि– "उन दिनों देश की आज़ादी मिले आठ साल हो गए थे। गांधी जी के अछूतोद्धार की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती थी। सरकारी स्कूलों के द्वार अछूतों के लिए खुलने शुरु तो हो गए थे, लेकिन जनसामान्य की मानसिकता में कोई विशेष बदलाव नहीं आया था। स्कूल में दूसरों से दूर बैठना पड़ता था, वह भी जमीन पर। अपने बैठने की जगह तक आते–आते चटाई छोटी पड़ जाती थी। कभी–कभी तो एकदम पीछे दरवाजे के पास बैठना पड़ता था। (जूठन– पृ0 13) इसके अतिरिक्त अध्यापकों का व्यवहार एकदम अमानवीय। चौथी कक्षा में ही वाल्मीकि जी के दोस्त सुक्खन सिंह की पसलियों पर निकले फोड़े पर मास्टर घूंसा जड़ देते हैं। उसकी दर्दनाक चीख से वाल्मीकि जी ममर्हित हो उठते हैं। यहीं नही, उसी विद्यालय के हैडमास्टर कलीराम बालक ओमप्रकाश से जाति पूछकर पूरे स्कूल की सफाई करवाते हैं। न करने पर गालियाँ देते हैं। यह क्रम कई दिनों तक चलता है। अन्त में, वाल्मीकि जी के पिता के हस्तक्षेप से यह क्रम बन्द होता है। आगे की कक्षाओं के भी कुछ अध्यापक, वाल्मीकि जी एवं उनके साथियों को बेवजह या किसी दूसरे की गलतियों की वजह से भी, पीटते रहते हैं। एक बार तो एक अध्यापक के घरवालों द्वारा वाल्मीकि जी की जाति जानने के बाद पिटाई की जाती है। इसी तरह, बारहवीं कक्षा में एक अध्यापक द्वारा रसायन शास्त्र के प्रेक्टिकल में फेल कर दिया जाता है, जबकि किसी न किसी बहाने उनसे प्रैक्टिकल नही करवाया गया था।

इन अमानवीय स्थितियों से उपजे दर्द एवं टीस का बयान करते हुए वाल्मीकि जी लिखते हैं– "ऐसे ही आदर्श शिक्षकों से पाला पड़ा था, उस समय, बचपन से किशोरावस्था की ओर बढ़ते हुए जब व्यक्तित्व का निर्माण हो रहा होता है। तब ऐसे दहशत भरे माहौल में जीना पड़ा। इस पीड़ा का अहसास उन्हें कैसे होगा जिन्होंने घृणा और द्वेष की बारीक सुइयों का दर्द अपनी त्वचा पर कभी महसूस नहीं किया? अपमान जिन्हें भोगना नहीं पड़ा? वे अपमान बोध को कैसे जान पाएंगे? रेतीले ढूह की तरह सपनों के बिखर जाने की आवाज नहीं होती। भीतर तक हिला देने वाली सर्द लकीर खींच जाती है जिस्म के आर–पार।" (जूठन–पृ0 62)

'जूठन' की इन घटनाओं की सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि, आए दिन समाचार–पत्रों में दलित छात्रों के शोषण की खबरें आती रहती हैं। साथ ही ये घटनाएँ गुरु–शिष्य के स्वाभाविक सम्बन्ध की भी परिणति नहीं है? ऐसा नहीं है कि आमतौर पर शिक्षक, अन्य छात्रों के साथ जैसा बर्ताव करते हैं, वैसा ही वाल्मीकि जी के साथ भी हुआ है। बल्कि, इन सबके पीछे वजह उनका दलित होना है। अध्यापक बराबर उनके चूहड़े होने का अहसास कराते रहते हैं। ऐसी स्थिति में हमें पवित्रता के छद्म आवरण में लिपटे– गुरु शिष्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार के लिए मज़बूर होना पड़ता है। हालांकि सभी अध्यापक ऐसे नहीं है। कुछ ऐसे भी अध्यापक हैं जो लेखक को बराबर प्रोत्साहित करते रहते हैं। लेखक ने उन्हें आत्मीयता के साथ सम्मान भी दिया है, फिर भी कुछ क्रूर अध्यापकों की वजह से उनके मन में जो धारणा

बनी है वह आसानी से मिटती नहीं।

शिक्षकों के साथ–साथ वाल्मीकि जी शिक्षा–व्यवस्था को भी कटघरे में खड़ा करते हैं। इस शिक्षा–व्यवस्था में एक साजिश के तहत डॉ0 अम्बेडकर जैसे महान व्यक्तित्व को अलग–अलग रखा गया है। वाल्मीकि जी 17-18 वर्षों के बाद जाकर डॉ0 अम्बेडकर को जान सके है। इस शिक्षा व्यवस्था में गाँधी, नेहरू, पटेल, टैगोर, राजेन्द्र प्रसाद, रामकृष्ण, विवेकानन्द, सुभाषचन्द बोस आदि से तो परिचय कराया जाता है, लेकिन वाल्मीकि जी जैसे हजारों दलित एक लम्बे समय तक अम्बेडकर के परिचय से वंचित रह जाते हैं। वाल्मीकि जी लिखते है– "त्यागी इंटर कॉलेज, बरला में कक्षा बारह तक पढ़ाई करके भी, किसी भी रूप में यह नाम मेरी जानकारी में नहीं आया था। इस पुस्तकालय में भी अम्बेडकर पर कोई पुस्तक नहीं थी। कभी किसी शिक्षक या किसी विद्वान के मुँह से यह नाम नहीं सुना था। गणतंत्र–दिवस पर भाषण होते थे, देश–प्रेम की कहानियाँ दोहराई जाती थी, लेकिन संविधान निर्माता की जानकारी नहीं थी। सूचना देने वाले तमाम माध्यम इस नाम को मुझ जैसे लोगों तक पहुँचाने में असमर्थ थे।" (जूठन – पृ0 88) ऐसा अनायास नहीं था, बल्कि जान–बूझकर किया गया था, ताकि डॉ0 अम्बेडकर को पढ़, समझ कर दलितों में चेतना न आ जाय। कमोवेश यह स्थिति आज भी है। कुछ अपवादों को छोड़कर आज भी मीडिया एवं कुछ अन्य बौद्धिक संस्थानों द्वारा दलितों के हितों की रक्षा के लिए, उनमें चेतना का संचार करने के लिए कोई व्यापक प्रयास नहीं किया जाता। हिन्दी मीडिया के बारे में तो

कई विद्वान ऐसा मानते हैं कि यह सवर्ण हिन्दू पत्रकारिता है। ऐसी स्थिति में वाल्मीकि जी की यह धारणा सही है कि यह शिक्षा व्यवस्था हमें किसी भी रूप में राष्ट्रीय नहीं बनाती, बल्कि कट्टर संकीर्ण हिन्दू बनाती है।

'जूठन' में वाल्मीकि जी ने जिन त्रासद जीवन प्रसंगों को चित्रित किया है, उन सबके मूल में उनका 'चूहड़ा' होना है। भारतीय समाज व्यवस्था में अस्पृश्य अछूत होने के कारण ही उन्हें जातिगत अपमान के कड़वे दंश झेलने पड़े हैं। यद्यपि गरीबी के कारण भी उन्हें अमानवीय स्थितियों का सामना करना पड़ा है, लेकिन 'अछूत' होने की वजह से वह और भी अधिक विडम्बनापूर्ण हो गया है। अछूत होने के कारण ही उन्हें विद्यालय में दाखिला मिलने में परेशानी होती है। किसी तरह दाखिला हो भी जाता है, तब भी उनके सहपाठी उन्हें 'चूहड़े' का कहकर अपमानित करते हैं। कुछ अध्यापक भी इसमें पीछे नहीं रहते। वे बेवजह प्रताड़ित करते रहते हैं। जब लेखक अपने एक साथी मिक्खूराम के साथ बृजपाल मास्टर के घर गेहूँ लाने जाते हैं, बृजपाल के घरवाले यह जानकर कि वे वृजपाल के छात्र है, उन्हें घर के अंदर बुलाकर खाना खिलाते हैं। लेकिन बाद में, जब उन्हें यह पता चलता है वे चूहड़ा जाति के है, तब – "बुजुर्ग (बृजपाल के पिता) ने चारपाई के नीचे पड़ी लाठी उठाकर तड़ मार दी थी, मिक्खूराम की पीठ पर। हाथ तगड़ा था। मिक्खूराम बिलबिला गया था।" (जूठन – पृ. 66) यहीं नहीं, कई गाँव वाले यह राय देते हैं कि इन दोनों का पेड़ से बांधकर लटका दो। इन सब में इन लोगों का दोष मात्र इतना था कि ये अछूत जाति के थे। इन्होंने उनकी

चारपाई पर बैठने, बर्तनों में आदर के साथ बैठकर खाना–खाने का दुस्साहस किया था, जो उनकी नज़र में अपराध था।

कुलकर्णी परिवार की सविता का लेखक के प्रति आकर्षण भी जातिगत–मानसिकता की भेंट चढ़ जाता है। जब सविता को लेखक बताता है कि वह एस० सी० है तो उसे सहसा विश्वास नहीं होता। उसके मन में यह धारणा विद्यमान थी कि एस० सी० 'अनकल्चर्ड' एवं असभ्य होते हैं जो कि लेखक नहीं है। लेखक की सज्जनता एवं सभ्य व्यवहार को देखकर सविता के परिवारवालों को यह भ्रम हो गया था कि वे ब्राह्मण है। लेखक जब सविता को अपना एस० सी० होना बताता है तब वह रोने लगती है। अन्त में निवेदन करती है कि वे यह बात उसके पिता को न बताएँ। इस तरह अपनी लाख योग्यता के बावजूद, अछूतों के सम्बन्ध में बनी मानसिकता इस प्रेम–सम्बन्ध पर हावी हो जाती है। इसके अलावा भी लेखक को अपनी जाति के कारण कई बार असहज स्थिति का सामना करना पड़ा है।

इस असहज एवं अमानवीय स्थितियों से निपटने के प्रति लेखक का दृष्टिकोण बहुत महत्व रखता है। लेखक के पिता की, उनको पढ़ाने के पीछे यही ख्वाहिश है कि 'पढ़–लिखकर' जाति सुधारनी है। वे बार–बार इसकी तरफ संकेत करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि 'जाति सुधारने' से उनका आशय यह नही है कि जाति छुपाई जाय, बल्कि जाति को स्वीकार करते हुए अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करने से है। लेखक के पिता लेखक को इसकी बराबर प्रेरणा देते रहते हैं। वे लेखक को दलित चेतना का

बीजमंत्र देते हुए कहते हैं– "बेटे, तू एक गरीब चूहड़े का बेटा है.....इसे हमेशा याद रखियों .....(जूठन पृ0 82) वाल्मीकि जी इसको हमेशा याद रखते हैं। अपने कई आत्मीय दोस्तों, द्वारा जाति सूचक सरनेम न लगाने के आग्रह के बावजूद वे 'वाल्मीकि' सरनेम लगाते है। वे उन दलितों पर, जो अपनी जातियाँ छिपाते हैं या ऐसे सरनेम लगाते हैं जिनसे उनकी जाति की पहचान न हो, टिप्पणी करते हुए लिखते है– "अस्तित्व के इस संकट काल में मुझ जैसा कोई जाति बोधक सरनेम के साथ आता है तो वे तमाम लोग चौकन्ने हो जाते हैं। उन्हें लगता है जैसे कोई उनका भेद खोल रहा है। क्योंकि समस्या से पलायन उन्हें सहज एवं सरल लगता है, जबकि सच यह है कि बदलाव पलायन से नहीं, संघर्ष और संवाद से आएगा। (जूठन पृ0 152) वस्तुतः संघर्ष और संवाद से ही इस समस्या से निजात पाई जा सकती है। जो व्यक्ति या मानसिकता इस समस्या की जड़ है उससे निरन्तर संघर्ष से उसे कमजोर किया जा सकता है, एवं उससे बेहतर संवाद स्थापित कर उसे बदला जा सकता है। उसके बदलाव को स्थायी रखा जा सकता है। यद्यपि इसकी लड़ाई एक दिन में नहीं जीती जा सकती, फिर भी निरंतर संघर्ष एवं आंतरिक एवं बाह्य परिवर्तनों से इसे जीता जा सकता है। इसी सन्दर्भ में वाल्मीकि जी लिखते है– "जाति ही जहाँ मान–मर्यादा एवं योग्यता का आधार हो, वहाँ यह लड़ाई एक दिन में नही लड़ी जा सकती है। लगातार विरोध और संघर्ष की चेतना चाहिए जो मात्र बाह्य ही नहीं, आंतरिक परिवर्तनगामी भी हो, जो सामाजिक बदलाव को दिशा दें।" (जूठन– पृ0 158)

निःसन्देह वाल्मीकि जी का यह दृष्टिकोण इस समस्या से निपटने में बहुत हद तक सहायक हो सकता है।

'जूठन' में वाल्मीकि जी ने दलित आंदोलन के अन्तर्विरोध पर विचार किया है। लेकिन हमें ऐसा नहीं लगता है। वाल्मीकि जी ने मेहतर–बस्तियों में बाबा–साहब का संदेश न पहुँचने पर टिप्पणी करते हुए लिखा है– "महाराष्ट्र की, शहरी एवं ग्रामीण, दोनों जगह दलित बस्तियों की दशा देखकर मन अवसाद से भर जाता था। महार–बस्तियों में डॉ0 अम्बेडकर ने जो चेतना जगाई थी, उसके परिणामस्वरूप महारों में शिक्षा का प्रसार हुआ था। लेकिन मांग, मेहतर आदि शिक्षा से दूर थे।

दलित कार्यकर्त्ताओं में जुझारूपन था। उनका संघर्ष और संकल्प देखकर उम्मीद जगती थी। लेकिन कार्यकर्त्ताओं में भी पारंपरिक जातिभेद की भावना थी। वे महार, मांग, चमार और मेहतर के भेद को भले ही बाह्य रूप से भुलानेकी बात कर रहे थे लेकिन आंतरिक रूप में वे स्वयं इन भावनाओं में जकड़े हुए थे। ऐसे पलों में मेरा मन टूटा जाता था। मेहतर बस्तियों में जाने के समय उनकी हिचकिचाहट साफ दिखाई पड़ती थी।

अम्बेडकर जयंती– कार्यक्रमों में भी महार ही अधिक दिखाई पड़ते थे।

बाबा साहब भीमराव अंबेडकर ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। महार भी उनके साथ हो गए थे। लेकिन ऐसे अनेक परिवार थे जो बौद्ध होकर भी हिन्दू देवी–देवताओं में उलझे थे। मेहतर–बस्तियों में बाबा साहब का संदेश पहुँचा ही नहीं था। जो पहुँचा था वह भी जाति के साथ। जब भी किसी मेहतर से

बात होती तो वह चौंक कर मेरी ओर देखता। बाबा साहब के लिए उनके मन में आदर था, लेकिन आंदोलन के कार्यकर्त्ता और नेता उनके मन में विश्वास पैदा नहीं कर पाए थे। वे मेहतर थे, समाज में सबसे नीचे। यह भावना उन्हें आंदोलन में जुड़ने से रोकती थी। वे दलित नेतृत्व को संदेह की दृष्टि से देखते थे।

दलित आंदोलन के इस अंतर्विरोध ने उसे कमजोर किया है, जिसका प्रभाव राजनीतिक स्तर पर भी दिखाई पड़ता है।" (जूठन – पृ0 132)

वाल्मीकि जी की इस टिप्पणी से मुख्यतः पाँच बातें स्पष्ट होती है।

1. अम्बेडकर का आंदोलन सिर्फ महारों में सीमित था।
2. दलित कार्यकर्त्ताओं में मेहतर नहीं थे।
3. अम्बेडकर जयन्ती कार्यक्रमों में भी महार अधिक भाग लेते थे।
4. महारों ने बाबा साहब के साथ बौद्ध धर्म को अपनाया।
5. मेहतर, समाज के सबसे नीचे होने की वजह से दलित आंदोलन से कम जुड़े। वे दलित नेतृत्व की संदेह की दृष्टि से देखते थे।

वाल्मीकि जी ने इन निष्कर्षों की दलित आंदोलन के अन्तर्विरोध के रूप में देखा है, लेकिन हमें यह सही नहीं लगता।

इसलिए कि एक तो उन्होंने बाबा साहब अम्बेडकर के आंदोलन को सिर्फ महारों में सीमित कर दिया है, जो कि सही नहीं है। यह सही है कि

बाबा साहब के साथ महार अधिक थे, लेकिन बाबा साहब सिर्फ महारों के ही नहीं थे। उनका आंदोलन सिर्फ महारों के लिए था। यदि बाबा साहब का आंदोलन सिर्फ महारों के लिए होता, वे सिर्फ महारों के हित की बात ही सोचते। जबकि, वस्तुस्थिति यह है आज वे पूरे दलित समाज के आदर्श हैं। दलित समाज का हर व्यक्ति उन्हें अपना आदर्श मानता है। यह इस बात का प्रमाण है कि उनका आंदोलन सिर्फ महारों के लिए नहीं था।

दूसरे कि स्वयं वाल्मीकि जी ने भी स्वीकार किया है कि अम्बेडकर जयंतियों में महार अधिक संख्या में भाग लेते थे। महारों ने बड़ी संख्या में बाबा साहब के साथ बौद्ध–धर्म ग्रहण किया था। इसके अनिरुपत दलित आंदोलन के कार्यकर्ताओं में मेहतर नही थे, क्योंकि यदि मेहतर कार्यकर्त्ता होते तब फिर वे मेहतर बस्तियों में जाने से नही हिचकते। ऐसी स्थिति में मेहतरों की दयनीय अवस्था में सुधार न होने के लिए समझ में नहीं आता कि दलित आंदोलन किस रूप में दोषी है? किसी भी आंदोलन के हानि–लाभ का श्रेय वही लेता है जो बड़ी संख्या में उसमें भाग लेता है। उसके लिए जोखिम उठाता है, संघर्ष करता है। चूंकि वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत होता है, इसलिए वह आंदोलन में सक्रिय भी होता है। अतः स्वाभाविक है कि अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने के कारण वह अन्य लोगों से पहले उसे प्राप्त भी करता है। महाराष्ट्र में महारों एवं हिन्दी प्रदेश में चमारों के साथ भी यही हुआ। इन्होंने दलित आंदोलन में अपनी सक्रिय भागीदारी दिखाई एवं उससे अधिक लाभान्वित भी हुए। इसलिए दलित आंदोलन को संदेह से देखने वाले मेहतरों की स्थिति

में समानुपातिक सुधार न होने के लिए दलित आंदोलन या उसके कार्यकर्त्ता जिम्मेवार नहीं है। साथ ही, विशेषकर महाराष्ट्र के महारों ने दलित आंदोलन के लिए जोखिम भी उठाया है। उनका कोई स्थायी पेशा नहीं था। उन्हें जो काम मिलता था, करते थे। बाबा साहब के आह्वान पर वे वह सब भी छोड़ रहे थे। 'अछूत' के दयापवार लिखते है– "बाबा साहब के प्रखर विचारों का प्रभाव गाँव–गाँव फैलने लगा। महार लोग चमड़ा फाड़ना, मरे ढोरों का माँस खाना छोड़ रहे थे। जल सागरों के क्रान्तिकारी गीत विद्रोह फैला रहे थे। जैसे किसी साँप ने केचुली छोड़ी हो, ठीक उसी तरह महार समाज सनसनाया हुआ था। (अछूत– पृ० 80) ऐसी स्थिति महाराष्ट्र के मेहतर या चमार जातियों में कम थी। मेहतर जाति का अपना स्थायी पेशा था, जिसे इन लोगों ने नहीं छोड़ा। वे सामाजिक व्यवस्था से अलगाव नहीं चाहते थे। व्यवस्था तंत्र से जुड़े होने के कारण वे व्यवस्था का लाभ भी उठाते थे, जिसे वे अन्य विकल्प न होने की वजह से छोड़ना नही चाहते थे। ऐसा कोई उदाहरण नही मिलता जिसमें मेहतरों ने अपने पुश्तैनी पेशे को बहिष्कार किया हो। अपने पुश्तैनी पेशे को छोड़ नए विकल्प की तलाश के प्रयास उनके द्वारा लगभग नहीं हुए हैं। अतः अपनी दयनीय अवस्था बने रहने के वे स्वयं जिम्मेवार हैं। यह अन्तर्विरोध उनका है, न कि दलित आंदोलन का।

दलित समाज की जिस भी जाति या व्यक्ति ने प्रस्थापित अमानवीय व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध किया है, जिसने अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद व्यवस्था या व्यक्ति से संघर्ष किया है, उसी जाति या व्यक्ति की परवर्ती

संततियों की स्थिति में सुधार हुआ है। उनकी स्थिति कुछ बेहतर हुई है। यहीं नहीं उनकी संततियाँ अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुई है एवं संघर्ष भी कर रही है। जूठन की संवेदना दलित समाज की इस सच्चाई को अभिव्यक्त करती है। 'जूठन' में स्वयं लेखक के अलावा उनके माँ–पिताजी ने अमानवीय स्थितियों के प्रति विद्रोह किया है।

लेखक के माता–पिता ने सुखदेव सिंह त्यागी की बेटी की शादी में, दस–बारह दिन पहले से ही, घर–आंगन से लेकर बाहर तक के अनेक काम किए थे। इसके बावजूद उन्हें अच्छा खाने तक को नहीं मिलता। जब लेखक की माँ शादी में सबके खाने के बाद कहती है–"म्हारे जाकतों (बच्चों) कूं भी एक पत्तल पर धर के कुछ दे दो", तब सुखदेव सिंह कहता है, – "टोकरा भर तो जूठन ले जा रही है.....ऊपर से जाकतों के लिए खाणा मांग रही है? अपनी औकात में रह चूहड़ी, उठा टोकरा दरवाजे से और चली बन।" सुखदेव सिंह द्वारा इस तरह अपमानित करने पर लेखक की माँ ने जूठन से भरा टोकरा वही बिखेर दिया, और कहा कि 'इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा।' लेखक की माँ का यह प्रतिरोध एक अभावग्रस्त दलित महिला का प्रतिरोध है जो बहुत मायने रखता है। वर्चस्ववाली जातियों के सामने उनकी माँ का ऐसा कहना कम साहस की बात नहीं है। वह भी ऐसी प्रतिकूल स्थिति में जब पेट भरने का एक मज़बूत सहारा छूट रहा हो। उस अभावग्रस्त जिन्दगी में, जिसमें अच्छा खाना, पहनना भी सपने की वस्तु है। इसके बावजूद वाल्मीकि जी की माँ विद्रोह करती है। उसके बाद से

वे कभी भी उसके दरवाजे पर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी इस घटना के साथ बंद हो गया। लेखक की माँ का यह विद्रोह उस मध्यवर्ग के लिए एक सबक है जो थोड़ी सी सुविधाओं के लालच में या वंचित होने के डर से व्यवस्था की चाटुकारिता करने से भी नहीं हिचकता।

लेखक के पिता ने भी इसी तरह कली राम हैडमास्टर का सामना किया था जब वह लेखक से तीन दिन से रोज झाड़ू लगवा रहा था एवं कक्षा में बैठकर पढ़ने भी नहीं दे रहा था। जब लेखक ने यह बात अपने पिता को बताई तब वे गुस्से से चीखने लगे– "कौन सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवाए है..... (जूठन पृ. 16) पिता के इस प्रतिशोध का लेखक पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। वे लिखते है– "उस रोज जिस साहस और हौसले से पिताजी ने हेडमास्टर का सामना किया, मैं उसे कभी भूल नहीं पाया। कई तरह की कमजोरियां थी पिताजी में लेकिन मेरे भविष्य को जो मोड़ उस रोज उन्होंने दिया उसका प्रभाव मेरी शक्सियत पर पड़ा।" (जूठन पृ० 16) अपने माता–पिता द्वारा अमानवीय स्थिति का प्रतिरोध करने की प्रवृत्ति से लेखक में वह चेतना पैदा हुई जिसकी बदौलत आज भी वे असहज स्थितियों का सामना करने से नहीं घबराते। वे अनुभव आज भी उनको प्रेरणा प्रदान करते हैं

जूठन में अभिव्यक्त यह जीवन–प्रसंग परिवर्तन कामी दलित-समाज के सच को भी उजागर करता है।

'जूठन' में लेखक, व्यवस्था, मानसिकता और व्यक्ति को एक मानने की

भूल नहीं करता। वह तीनों के नकारात्मक स्वरूप की आलोचना तो करता ही है साथ ही उसके सकारात्मक स्वरूप की पहचान भी रखता है। 'जूठन' में हमें कई ऐसे प्रसंग मिल जाएंगे जो परिवर्तनकामी व्यवस्था, मानसिकता और व्यक्ति की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं। बाल्मीकि जी बेवजह प्रताड़ित करने वाले शिक्षकों का तो उल्लेख करते ही है, इसके बावजूद उन शिक्षकों का भी उल्लेख करना नहीं भूलते जो उन्हें बराबर प्रोत्साहित करते रहते थे। योगेन्द्र त्यागी और बाबूराम त्यागी ऐसे ही शिक्षक थे जो उनको प्रोत्साहित करते रहते थे। योगेन्द्र त्यागी जब भी उनके पिता से मिलते, कहते– 'छोटन अपने लड़के को पढ़ने से मत रोकना' (जूठन – पृ० 29) बाबूराम त्यागी का स्नेह एवं मागदर्शन भी उनका बराबर मिलता रहता था। उनके गाँव के चमनलाल त्यागी भी उनके हाईस्कूल पास होने पर बधाई देने आते हैं। उनको अपने घर ले जाकर खाना खिलाते हैं।

वैसे तो यह छोटी सी ही घटना कही जाएगी लेकिन बाल्मीकि जी के लिए यह बहुत मायने रखती है। इन लोगों की आत्मीयता एवं स्नेह इनको प्रेरणा देता रहता है। इन जीवन–प्रसंगों के उल्लेख से यह भी स्पष्ट होता है कि बाल्मीकि जी को परिवर्तनकामी लोगों की पहचान है। साथ ही, वे एकायामी एवं सतही होने से भी बचे हैं। उनकी दृष्टि में संतुलन आया है। ऐसे जीवन–प्रसंगों को स्वीकार करते हुए ही, विश्वसनीयता अर्जित करते हुए, बदलाव की मानसिकता तैयार की जा सकती है। प्रगतिचेता लोगों को गोलबंद तथा उत्साहित किया जा सकता है।

आत्मकथा में चयन का विवेक बहुत निर्णायक होता है। दलित आत्मकथाओं में तो इस विवेक की कुछ ज्यादा ही माँग होती है, क्योंकि यह एक निश्चित उद्देश्य के तहत लिखी जाती है। परिवर्तनकारी समाज का निर्माण एवं दलित–चेतना का विकास इसके उद्देश्यों में अन्तर्निहित रहता है। इसलिए लेखक से यह उम्मीद की जाती है कि वह इन उद्देश्यों में सहायक जीवन–प्रसंगों का, अपनी आत्मकथा में उल्लेख करें। वैसे भी आत्मकथा में, सामान्य अनुभव के बजाय विशिष्ट अनुभव की माँग की जाती है। पिछले अध्याय में हमने चर्चा की है कि मराठी की कुछ आत्मकथाओं एवं 'अपने–अपने पिंजरे' में इसका निर्वाह नहीं हो पाया है। कुछ ऐसे भी प्रसंग उन आत्मकथाओं में आए हैं, जो वास्तविक तो है लेकिन उनका दलित चेतना से कोई लेना–देना नहीं। उल्टे वे पाठक के मन में जुगुप्सा ही पैदा करते हैं। 'जूठन' में ऐसी बात नहीं है। इसका कोई भी प्रसंग जुगुप्सा या घृणा नहीं पैदा करता, बल्कि जूठन में आद्यन्त करुणा एवं आक्रोश की धारा प्रवाहित होती रहती है। पाठक शुरु से अन्त तक करूणा एवं आक्रोश से आप्लावित होता रहता है। लेखक ने इसमें नग्न यथार्थ का चित्रण करने से अपने को बचाया हैं, जो कि अक्करमाशी, अपने–अपने पिंजरे, 'अछूत' पराया आदि में संभव नहीं हो पाया है। यह भी 'जूठन' की एक खासियत है।

बाल्मीकि जी एक अच्छे कवि है। इसलिए शब्दों के चयन, उनके कुशल संयोजन आदि से उन्होंने 'जूठन' में भी काव्यात्मकता ला दी है। जूठन में कई ऐसे वाक्य हैं जो अपनी काव्यात्मकता से व्यापक अर्थ छवियाँ उकेरते

है। करूणा इनका मूल भाव है। ये वाक्य बरबस पाठक के अर्न्तमन में गहरी पैठ बनाते हैं। जैसे–

'रेतीले ढूह की तरह सपनों के बिखर जाने की आवाज़ नहीं होती। भीतर तक हिला देने वाली सर्द लकीर खिंच जाती है जिस्म के आर–पार। (–जूठन : पृ. 62)

इस तरह की कई पंक्तियाँ जूठन में मौजूद है।

जूठन की भाषा में काव्यात्मकता के साथ ही उसके संवादों में भी वह विशेषता है जो संवादों को अधिक स्वाभाविक बनाती है। 'जूठन' में चरित्रों के परस्पर संवादों में हिन्दी एवं स्थानीय बोली कौरवी का मेल सा है। सामान्यतः गांवों में ऐसा होता है कि जब एक व्यक्ति दूसरे से बात करता है तब अपनी मातृभाषा के साथ–साथ उस क्षेत्र की प्रचलित साहित्यिक भाषा का छौंक भी मिलाते चलता हैं। ऐसा कभी–कभी आत्मीयता की वजह से होता है तो कभी सामने वाले पर, अपनी रौब जमाने के लिए या यह जतलाने के लिए कि हम भी अनपढ़ या गंवार नहीं है।

यह स्थिति जूठन में भी मौजूद है। जैसेः–

(क) मुंशी जी, यो क्या कर रा है?"

मुंशी जी "रोते क्यों हो? ठीक से बोल, क्या हुआ हैं? (पृ. १६)

(ख) मास्टर हो..... इसलिए जा रहा हूँ..... पर इतना याद रखिए मास्टर..... यो, चूहड़े का यही पढ़ेगा..... इसी मदरसे में। और यो ही नहीं, इसके बाद और भी आवेंगे पढ़ने कूं।" (पृ. १६)

(ग) हम चूहड़े–चमारों के कपड़े नही धोते, न ही इस्तरी करते हैं। जो तेरे कपड़े पे इस्तरी कर देंगे तो तगा हमसे कपड़े न धुलवाएंगे, म्हारी तो रोजी–रोटी चली जागी। (पृ.२६)

(घ) मुंशी जी– बस तुझे स्कूल भेजना सफल हो जिया है.....म्यारी समझ में बी आ गिया है..... इब इस रीत कू तोड़ेंगे। (पृ. ४४)

संवादों की ऐसी प्रवृति ग्रामीण पृष्ठभूमि पर लिखे गए, 'मैला आँचल', रागदरबारी, आधा गांव जैसे श्रेष्ठ उपन्यासों में भी विद्यमान है। वाल्मीकि जी ने ऐसे संवादों के माध्यम से 'जूठन' की स्वाभाविकता को बढ़ाया है। ऐसे संवाद यह भी संकेतित करते है कि हिन्दी सिर्फ साहित्यिक भाषा तक ही सीमित नहीं है बल्कि उपभाषाओं में भी अपनी पैठ बढ़ा रही है। भाषा के स्तर पर ग्रामीण समाज पर पड़ने वाले प्रभावों को भी ये संवाद, रेखांकित करते है।

जूठन के अन्तर्विरोध

निःसन्देह, 'जूठन' भी अन्तर्विरोधों से मुक्त नहीं है। हमने 'जूठन' के कुछ अन्तर्विरोधों की पहचान की है, जिनका उल्लेख यहाँ जरूरी है।

1. आत्मकथा – लेखन के अन्य खतरों में एक खतरा यह भी होता है कि कहीं लेखक अपनी कथा लिखते हुए आत्ममुग्ध न हो जाए। उसमें 'हीरोईज्म' का भाव न आ जाए। सामान्यतः इनसे बचने की उम्मीद लेखक से की जाती है। 'जूठन' में वाल्मीकि जी इस प्रवृत्ति से बच नहीं पाए हैं। कहीं–कहीं लगता है कि या तो उन्होंने काल्पनिक घटनाओं का सृजन किया है या बाद की मान्यताओं को बहुत पहले आरोपित कर दिया है। जैसे उनका अश्वत्थामा के प्रसंग में सवाल करना। घटना तब की है जब वे साँतवीं कक्षा के छात्र थे– "एक बार स्कूल में मास्टर साहब द्रोणाचार्य का पाठ पढ़ा रहे थे। मास्टर साहब ने लगभग रूआँसा होकर बताया था कि द्रोणाचार्य ने भूख से तड़पते अश्वत्थामा को आटा पानी में घोल मिलाकर पिलाया था, दूध की जगह। द्रोण की गरीबी का दारूण नक्शा सुनकर पूरी कक्षा हाय–हाय कर उठी थी।

मैंने खड़ा होकर मास्टर साहब से एक सवाल पूछ लेने की धृष्टता की थी। अश्वत्थामा को तो दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया और हमें चावल का माँड। फिर किसी – भी महाकाव्य में हमारा जिक्र क्यों नहीं आया? किसी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक भी शब्द क्यों नहीं लिखा?" (जूठन पृ0 34) लेखक के अनुसार इसके बाद मास्टर साहब ने उन्हें गालियाँ दी थी

एवं पीटा था। मास्टर का गालियाँ देना एवं पीटना वास्तविक लगता है लेकिन लेखक का प्रश्न एकदम अस्वाभाविक है। लेखक उस समय साँतवी कक्षा का छात्र था। उस समय उन्हें कैसे पता चल गया कि किसी महाकाव्य में हमारी वेदना का उल्लेख नहीं है? या किसी महाकवि ने हम पर एक शब्द भी नहीं लिखा है? जबकि लेखक अशिक्षित परिवार से है। उन्हें वैसा परिवेश भी नहीं मिला है जो इस प्रश्न की पृष्ठभूमि तैयार करता हो। वाल्मीकि जी स्वयं आगे मानते हैं कि मराठी दलित साहित्य के सम्पर्क में आने से, अम्बेडकर के साहित्य पढ़ने से इनके लिए साहित्य का अर्थ बदलने लगा। उनकी दृष्टि में बदलाव आया। उनमें दलित चेतना का संचार हुआ। इसलिए लगता है कि लेखक ने अपनी बात भी मान्यताओं को बचपन की इस घटना में आरोपित कर दिया है। हाँ यदि उनकी अगली पीढ़ी अपने अध्यापक से यह सवाल करे तब वह अस्वाभाविक नहीं होगा।

इसी तरह 'जूठन' का एक और प्रसंग पाठक के मन में संदेह पैदा करता है। अपनी जातिसूचक सरनेम लगाने,न लगाने सम्बन्धी विमर्श के क्रम में वाल्मीकि जी एक घटना का उल्लेख करते हैं। वे मोहनदास नैमिशराय के साथ उनके किसी संपादक–मित्र से मिलने जाते हैं। उनके अनुसार नैमिशराय जी उनसे अपना सरनेम हटाकर परिचय देने का अनुरोध करते है और कहते है– "उन्हें मेरे विषय में ज्यादा पता नहीं है आदमी तो अच्छे है..... मेरी काफी इज्जत करते हैं, फिर भी .....(जूठन पृ0 153) यद्यपि यहाँ वाल्मीकि जी अपने सरनेम के साथ परिचय देते है और कोई असहज स्थिति पैदा नहीं

होती, फिर भी नैमिशराय जी का अनुरोध सही नहीं लगता। नैमिशराय जी लगभग बीस वर्षों से लगातार दिल्ली में दलित विषयों पर लेखन कर रहे हैं। दिल्ली से बाहर भी उनकी एक प्रखर दलित कवि, लेखक, पत्रकार के रूप में पहचान है। इसलिए ऐसा संभव नहीं है कि उनका कोई संपादक – मित्र, उनका दलित होना न जानता हो। नैमिशराय जी भी उन लोगों में से नहीं है जो अपनी जाति छुपाकर रहते हैं। यदि ऐसा होता तब उनकी दलित साहित्यकार की छवि नहीं बनती। इसलिए इस प्रसंग में नैमिशराय जी द्वारा जाति छुपाने का अनुरोध सही नहीं लगता। लगता है, बाल्मीकि जी भावावेश में कुछ अधिक कह गए है।

2. 'जूठन' में लेखक ने ऐसे दो जीवन प्रसंगों का उल्लेख किया है जिनमें परस्पर अंतर्विरोध है। लेखक एक जगह लिखता है– "मेरी माँ इन सब मेहनत–मज़दूरियों के साथ–साथ आठ दस तगाओं (हिन्दू–मुसलमान) के घर तथा घेर (मर्दों का बैठक खाना तथा मवेशियों को बांधने की जगह) में साफ–सफाई का काम करती थी। इस काम में मेरी बहन, बड़ी भाभी तथा जसवीर और जनेसर (दो भाई) माँ का हाथ बंटाते थे। बड़ा भाई सुखवीर तगाओं के यहाँ वार्षिक नौकर की तरह काम करता था।" (जूठन पृ0 19) इसके बाद जब लेखक के बड़े भाई सुखवीर की मृत्यु हो जाती है, तब वह लिखता है– "मुझे अच्छी तरह याद है, भाई के रहते मेरी बड़ी और छोटी बहन घर से बाहर नहीं निकली। मैंने कभी किसी के घर जाकर झाड़ू नहीं लगाई।" (जूठन – पृ0 22) कहना न होगा कि इन दोनों स्थितियों में परस्पर अन्तर्विरोध है। इनमें से कोई एक ही सही हो सकती है।

चौथा अध्याय

'जूठन' : बहस जारी है।

समकालीन दलित साहित्य की विभिन्न विशेषताओं के बावजूद, उसकी एक कमी हमें बराबर कचोटती रहती है। वह कभी न केवल दलित साहित्य के लिए बल्कि किसी भी साहित्य के परिष्कार एवं विकास के लिए नुकसानदेह साबित होती है।

अब तक के दलित साहित्य को देखकर लगता है कि दलित साहित्यकारों में दलित साहित्य के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि का विकास नहीं हो पाया है। ऐसा नहीं है कि इन साहित्यकारों में आलोचनात्मक दृष्टि का अभाव है। इनके पास अपने पूर्ववर्ती साहित्य, परम्परा की पड़ताल के लिए जो आलोचना दृष्टि है, वह किसी भी श्रेष्ठ आलोचक के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकती है, लेकिन इन साहित्यकारों में, दलित साहित्य के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि का लगभग अभाव है।

ऐसी धारणा बनाने के लिए हम इसलिए विवश है क्योंकि अभी तक जितनी मात्रा में दलित साहित्य में कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास निबन्ध आत्मकथा आदि लिखे जा चुके हैं; उसके अनुपात में आलोचनात्मक साहित्य लगभग नहीं है। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाय तो अब तक जो कुछ आलोचनात्मक साहित्य आया हैं उसमें भी आलोचनात्मक दृष्टि कम, आत्ममुग्धता या 'विरूदावली' का भाव अधिक है। दलित साहित्य के सन्दर्भ में जितनी बड़ी–बड़ी बातें की जाती है, उसके बनिस्पत उसके अन्तर्विरोधों एवं सीमाओं की पड़ताल कम हो पाती है। यहाँ हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि दलित साहित्य कतई प्रशंसा का हकदार नही है? यह साहित्य प्रशंसा के काबिल

अवश्य है, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि इसकी आलोचना भी न की जा सके। अन्य साहित्य की तरह दलित साहित्य की भी आलोचना बहुत जरूरी है।

किसी कृति की उत्कृष्टता का एक पहलू यह भी होता है कि वह कृति अपने समकालीन बौद्धिक विमर्श में कितना सार्थक हस्तक्षेप करती है? बौद्धिक वर्ग को कितना आंदोलित करती है? बौद्धिक वर्ग कितनी जल्दी और किस अनुपात में उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है? उस प्रतिक्रिया में बौद्धिक वर्ग का आलोचनात्मक दृष्टिकोण किस हद तक मुखरित होता है? इस प्रतिक्रिया में वह अपनी दृष्टि में कितना संतुलन बना पाता है? यह सब स्थितियाँ किसी कृति की उत्कृष्टता को संकेतित करती हैं? यदि इस 'संतुलन' या 'प्रतिक्रिया' को जाति, धर्म या किसी अन्य कारणों के बहाने कुँठित करने, अवरूद्ध करने का प्रयास किया जाता है, या आलोचनात्मक दृष्टि की वस्तुनिष्ठ पड़ताल के बजाय आलोचक की व्यक्तिगत स्थितियों की पड़ताल की जाती है, तब यह स्थिति न केवल बौद्धिक नैतिकता के लिए घातक होती है, बल्कि कृति की संभावनाओं के लिए, उसके परिष्कार परिमार्जन के लिए भी नुकसानदेह साबित होती है। कहना न होगा कि दलित साहित्य अभी इसी स्थिति से गुजर रहा है।

'जूठन' के प्रसंग में दलित साहित्य की इस कमी की तरफ संकेत करने की वजह यह है कि हमें उम्मीद थी कि 'जूठन' से आलोचकों की बहुत अधिक असहमितियाँ उभर कर आएँगी, लेकिन ऐसा बहुत कम हुआ है। जूठन की जितनी लोकप्रियता पाठकों के बीच हुई है और जिस तरह दो साल में ही

उसका दूसरा संस्करण निकला है, उस तरह हमें उम्मीद थी कि आलोचकों की प्रतिक्रियाएँ, उनकी जूठन से असहमतियाँ भी उभरेगी। इस अध्याय में हमारी इच्छा थी कि जूठन की 'असहमतियों' पर विशेष रूप से चर्चा की जाय। जूठन की प्रशंसा तो बहुत हुई है। लेकिन उससे असहमतियाँ कम व्यक्त की गई है। बहरहाल 'जूठन' से जो कुछ भी असहमतियाँ आलोचकों ने व्यक्त की है, हम उन पर ही चर्चा करेंगे।

इस प्रक्रिया में हम सबसे पहले जूठन के एक प्रसंग के सम्बन्ध में डॉ० श्यौराजसिह बेचैन की आपत्तियों पर विचार करेंगे। जूठन में एक जगह वाल्मीकि जी ने लिखा है– "मुझे अच्छी तरह याद है, भाई के रहते मेरी बड़ी भाभी और छोटी बहन घर से बाहर नही निकली। मैंने कभी किसी के घर जाकर झाड़ू नही लगाई। (जूठन पृ० 22) इस पर डॉ० बेचैन अपनी राय व्यक्त करते हुए लिखते है– "महिलाओं को सफाई के नाम पर अपमान–बोध की संभावना है किन्तु आप और पुरुषों को काम में हाथ बटाने की दृष्टि से स्त्रियों को घर से बाहर निकलना कोई शर्म की बात मुझे लगती। दूसरा वाल्मीकि समाज में बहुसंख्या तो सफाई कर्म से जुड़े लोगों की ही है। उनसे दूरी दिखाना वास्तविकता तो हो सकती है किन्तु उन्हें वह जीवन कैसा कष्ट कर है यह अनुभव भी आना चाहिए।"[1]

डॉ० बेचैन की यह आपत्ति उस खास प्रसंग को लेकर है जिसका उल्लेख पहले किया गया है। आत्मकथा के अन्य प्रसंगों को ध्यान में रखने पर यह आपत्ति सही नहीं लगती।

हमने तीसरे अध्याय में उल्लेख किया है कि उपरोक्त प्रसंग (जूठन पृ० 22) एवं उससे सम्बन्धित एक और प्रसंग (जूठन – पृ० 19) में परस्पर अन्तर्विरोध है। उन दोनों में कोई एक ही सही हो सकता है। डॉ० बेचैन ने जिस प्रसंग को आधार बनाया है उससे अधिक स्वाभाविक वह प्रसंग है जिसमें लेखक अपने परिवार के सदस्यों के साथ तगाओं के घर काम करने की बात करता है; (जूठन–पृ० 19) जबकि डॉ० बेचैन द्वारा उदघृत प्रसंग उस मनोस्थिति का है जिसमें लेखक अपने बड़े भाई के मरने के बाद की स्थिति का बयान करता है। बड़े भाई की मृत्यु के बाद परिवार की आजीविका का एक मज़बूत आधार भी समाप्त हो गया था। जीवन संघर्षों में जिससे थोड़ा–बहुत सहारे की उम्मीद थी वह भी चला गया था। ऐसी स्थिति में लेखक की यह बात– बड़े भाई के रहते हमने बाहर काम नहीं किया– उस भाई के प्रति गहरी संवेदना से उत्पन्न है। यह भाई के प्रति उस श्रद्धा का निवेदन है जिसमें गहरी वेदना अन्तर्निहित है। इसलिए यह प्रसंग लेखक की गर्वोक्ति नहीं, बल्कि उन मनःस्थिति की मर्मान्तक टीस की अभिव्यक्ति है। दूसरी बात की यदि लेखक घर से बाहर निकल कर काम करने में शर्म महसूस करता तो कभी नहीं लिखता कि मेरी माँ, बहन, बड़ी भाभी तगाओं के घर में काम करने जाती थी। लेखक उस कष्टप्रद स्थिति का तो बयान करता है। साथ ही यह भी घोषित करता है कि वे दिन मेरे महत्वपूर्ण दिन थे उन दिनों में उनसे भागना चाहता था। आज वे मेरी ताकत है जो मुझे हौंसला देते है।" (जूठन पृ० 56) लेखक की इस स्वीकारोक्ति से स्पष्ट होता है कि डॉ० बेचैन की आपत्ति सही नहीं है।

डॉ० बेचैन की दूसरी आपत्ति जूठन में हंस के संपादक राजेन्द्र यादव के उल्लेख को लेकर है। वे उनके उल्लेख को अनावश्यक मानते है। लेखक द्वारा राजेन्द्र यादव के कृतज्ञता ज्ञापन को सही मानते हुए भी डॉ० बेचैन को लगता है कि 'जूठन' में उनका उल्लेख गलत संदेश दे रहा है। डॉ० बेचैन लिखते है– "सब तरफ से उपेक्षित लेखक को ऐसा महत्व मिलना उसके अंदर कृतज्ञताभाव पैदा करे, यह स्वाभाविक है। यहाँ यादव जी का विस्मरण ज्यादती होता। किन्तु इस कथा में यह गलत संदेश दे रहा है गोया बाल्मीकि जी अपने लेखन की वजह से नहीं, यादव जी की दया के कारण उभरे हो, यह एक लेखक की प्रतिभा और खुद्दारी के खिलाफ है।"[2] आगे डॉ० बेचैन प्रश्न करते है कि – "क्या कथा–लेखन कार्यक्रम के निमंत्रण की घटना इतनी महत्वपूर्ण है कि वह लेखकीय में आने के बजाय आत्मकथा के बीच में (पृ० 27 पर) अनावश्यक रूप से आ गई है? जबकि यह समय 1993 का है।"[3]

डॉ० बेचैन के अलावा, प्रसिद्ध साहित्यकार कंवल भारती को भी जूठन में राजेन्द्र यादव का उल्लेख अखरता है। वे लिखते है– "राजेन्द्र यादव की प्रशंसा वहाँ तो उचित लगती है, जहाँ लेखक 'सारिका'" की बदतमीजी की चर्चा करता है। पर अन्य स्थलों पर राजेन्द्र यादव की प्रशंसा में जो कुछ लिखा गया है, उससे संदर्भ का मेल नहीं बैठता है। इस 'ठकुर सुहाती' के बिना भी काम चल सकता था, जो इस आत्मकथा में स्पष्ट पहचान लिया जाता है।"[4]

दोनों दलित साहित्यकारों की आपत्तियों पर विचार करने से पहले यह

देख लेना जरूरी है कि जूठन में राजेन्द्र यादव का उल्लेख कहाँ–कहाँ पर है। भूमिका के अलावा जूठन में लेखक ने मात्र तीन जगह पर राजेन्द्र यादव का उल्लेख किया है। पृ० 27 पर, 103 पर एवं 147 पर। पृ० 27 पर दिल्ली की मज़दूर बस्तियों में 'कथा–कथन' कार्यक्रम का निमंत्रण देने के कारण, पृ० 103 पर 'सारा आकाश' की प्रशंसा के बहाने एवं पृ० 147 पर हंस में स्थान देने के कारण। इन तीनों प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए थोड़ी देर के लिए यह माना जाय कि इन साहित्यकारों की राजेन्द्र यादव के प्रति आपत्तियों की वजह व्यक्तिगत नहीं है, तब भी इनकी आपत्तियाँ तार्किक नहीं लगती।

डॉ० बेचैन ने जिस 'कथा – कथन' के प्रसंग को अनावश्यक माना है, वह अनावश्यक नहीं, बल्कि उसका व्यापक निहितार्थ है। साथ ही, इस प्रसंग में कहीं भी राजेन्द्र यादव को अनावश्यक महत्व नहीं दिया गया है। इस प्रसंग का निहितार्थ श्री यादव का महिमामंडन करना नहीं, बल्कि साहित्य एवं पाठक के बीच बढ़ते फासलें पर टिप्पणी करना एवं इनमें परस्पर संवाद स्थापित करना है। इसमें वाल्मीकि जी लिखते हैं– "कहानी सुनाने पर एक अजीब सी अनुभूति हुई थी। उस रोज माँ की स्मृतियाँ ताजा हो गई थी अचानक। साहित्य और पाठक के बीच जो फासला है उसे पाटने का इससे बेहतर तरीका और क्या हो सकता है। जो अनपढ़ जनमानस साहित्य पढ़ नहीं सकता। जो पढ़ सकता है, वह खरीद कर पढ़ने की स्थिति में नहीं है। 'कथा–कथन' के माध्यम से साहित्य और साहित्यकार पाठकों के बीच जाकर एक सार्थक संवाद बनता है।" (जूठन– पृ० 27) इस उद्धरण से हम समझ

सकते हैं कि इसमें यादव जी का महिमामंडन कतई नहीं झलकता। उनका उल्लेख सिर्फ इसलिए है क्योंकि उन्होंने इस कार्यक्रम का आयोजन करवाया था। साथ ही यह अनावश्यक और बीच में थोपा गया भी नहीं है। लेखक इसके लिए वह पूरी पृष्ठभमि बयान करता है जिसमें वह अपनी माँ को डिबिया की रोशनी में उपन्यास एवं कहानियाँ पढ़कर सुनाया करता था।

दूसरी बार लेखक 'सारा आकाश' के बहाने राजेन्द्र यादव का उल्लेख करता है। वह भी इस तरह – " जिस रोज मैं छात्रावास में पहुँचा था, मेरी मेज के ड्राअर में रखी 'सारा आकाश' (राजेन्द्र यादव) की प्रति मिली थी। मैं पूरे दो वर्ष उस कमरे में रहा और कई–कई बार उस उपन्यास को पढ़ा। मध्य वर्ग पर इससे बेहतर रचना मेरी नजर से नहीं गुजरी।" (जूठन पृ० 103) इस उद्धरण में भी हमें ऐसा नहीं लगता कि लेखक ने ठकुर सुहाती की है, जैसा कि कंवल भारती मानते है। 'सारा आकाश' निःसन्देह एक श्रेष्ठ कृति है और उसकी प्रशंसा वाजिब है। यदि कंवल भारती को लगता है कि यह कृति प्रशंसा की हकदार नहीं है तो उन्हें स्पष्ट करना चाहिए था, न कि व्यक्तिगत आग्रहों, दुराग्रहों को आधार बनाकर टिप्पणी करते। साथ ही, कंवल भारती जी को यह भी ध्यान रखना चाहिए था कि लेखक ने शरतचन्द्र, राहुल सांस्कृत्यायन, मैक्सिम गोर्की आदि कई श्रेष्ठ साहित्यकारों एवं उनकी कृतियों की भी प्रशंसा की है, फिर वे सिर्फ राजेन्द्र यादव के नाम से ही क्यों बिदकते हैं।

तीसरी बार (पृ० 147 पर) वाल्मीकि जी हंस में जगह मिलने के कारण यादव जी के प्रति कुछ अधिक विनम्र अवश्य हो गए है। लेकिन, यह विनम्रता

भी उनकी ठकुर सुहाती नही, बल्कि उस संस्कार के कारण है, जिससे वे हर प्रगति चेता एवं परिवर्तनशाली व्यक्तियों की पहचान कर उनके प्रति विनम्र होते हैं। यह बाल्मीकि जी की कमी नहीं है, बल्कि उनकी इंसानियत, ईमानदारी एवं मानवीय होने का सबूत है। यहाँ कंवल भारती जी से पूछा जा सकता है कि यदि राजेन्द्र यादव 'हंस' में जगह देने के कारण एवं बाल्मीकि जी उनकी प्रशंसा करने के कारण दोषी है, तब वे संपादक या साहित्यकार कैसे दोषी हो सकते है जो किसी दलित साहित्य की रचना को नहीं छापते या नोटिश नहीं लेते? इसलिए किसी भी संदर्भ को उसके पूरे परिप्रेक्ष्य में देखते हुए, अपने व्यक्तिगत आग्रहों, दुराग्रहों से मुक्त होकर की गई टिप्पणी ही अधिक तर्कसंगत हो सकती है। इन साहित्यकारों को भी यह ध्यान रखना चाहिए।

'जूठन' के सम्बन्ध में दूसरी टिप्पणी मार्क्सवादी पत्रकार अजय सिंह की है, जो बहस की मांग करती है। वे 'इण्डिया टुडे' में प्रकाशित 'जूठन' की समीक्षा में लिखते है– "जूठन की विशेषता है, लोकतांत्रिक या जनवादी सोच–विचार के काफी करीब होना और मार्क्सवाद के प्रति झुकाव। यह ऐसी दलितवादी या अम्बेडकरवादी आत्मकथा है, जिसमें लेखक को आंबेडकर और मार्क्स दोनों ताकत व प्रेरणा देते है।

हिन्दी दलित लेखन में दो विचार प्रवृत्तियाँ साफ तौर पर उभर आई है। पहली प्रवृत्ति मार्क्सवाद व वामपंथ को दलितों का दोस्त मानती है और दलित मुक्ति के सवाल पर आंबेडकर के साथ मार्क्स की विचार पद्धति को भी उचित स्थान देती है। उसे आंबेडकर व दलित आंदोलन के प्रति वर्ग

दृष्टिकोण और आलोचनात्मक नज़रिया अपनाने से परहेज नहीं है। दूसरी प्रवृत्ति मार्क्सवाद व वामपंथ का निषेध करती है, उसे दलितों का लगभग दुश्मन करार देती है और वर्ग दृष्टिकोण व आलोचनात्मक नज़रिया अपनाने के सवाल को खारिज़ कर देती है।

वाल्मीकि और उनकी आत्मकथा 'जूठन' पहली प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। 'जूठन' में दलित आंदोलन के प्रति आलोचनात्मक नज़रिया व वर्ग दृष्टिकोण मिलता है और दलितवाद के खोल से बाहर आने की कोशिश दिखाई देती है। लेखक दलित आंदोलन के अंतर्विरोध व अंतद्वंद को छिपाता नहीं, बल्कि उनपर सजग व संवेदनशील कलाकार के रूप में सधी हुई टिप्पणी करता है।"[5]

अजय सिंह अपनी इस टिप्पणी में बाल्मीकि जी एवं 'जूठन' में तीन प्रवृत्तियाँ रेखांकित करते है–

(क) मार्क्सवाद के प्रति झुकाव एवं जनवादी सोच–विचार के काफी करीब होना।

(ख) उनका वर्ग दृष्टिकोण एवं

(ग) दलित आंदोलन के प्रति आलोचनात्मक नज़रिया।

जहाँ तक वाल्मीकि जी के मार्क्सवाद के प्रति झुकाव का प्रश्न है, इससे असहमत नहीं हुआ जा सकता। उन्होंने मार्क्सवाद को पढ़ा है, उसकी विचार पद्धति को वे उचित सम्मान देते है। लेकिन वाल्मीकि जी का,

मार्क्सवादियों एवं 'जनवादी सोच–विचार के काफी करीब होना गले नहीं उतरता। मार्क्सवाद ने वाल्मीकि जी की वैचारिक समझ को समृद्ध किया है, लेकिन यहाँ के मार्क्सवादियों की समझ से वाल्मीकि जी अलग समझ रखते है। इसलिए वाल्मीकि जी, भारतीय मार्क्सवादियों की सांस्कारिक मनोवृत्ति पर चोट करते रहते हैं। वे 'मार्क्सवाद' या जनवाद को दलित साहित्य का विरोधी नहीं मानते बल्कि, एक बेहतर विचार के बहाने, दोहरी मानसिकता' को विरोधी मानते है। वे लिखते है– "दलित साहित्य मार्क्सवाद का विरोधी है न जनवाद का। दलित रचनाकार उस दोहरी मानसिकताका विरोधी है जो बाहर से मार्क्सवादी साम्यवादी और भीतर से फासिस्टों की पक्षधर। शोषण–विहीन समाज की परिकल्पना को साकार करने के लिए मार्क्सवादी विचारक वर्ग के साथ 'वर्ण' को अपनी लड़ाई का लक्ष्य बनाने में ढुलमुल क्यों हैं? भारतीय समाज में वर्ण एक सच्चाई है जिसने सदियों से इस देश के जनमानस को सिर्फ टुकड़ों में ही नहीं बांटा, उनके मानवीय सरोकारों को भी छिन्न–भिन्न किया है। भारतीय मार्क्सवादी, प्रगतिवादी जनवादी इस सच्चाई से कब तक मुँह मोड़े रहेंगे।"[6]

वाल्मीकि जी के इस कथन से स्पष्ट है कि अजय सिंह उनको आधा अधूरा ही समझ पाए है। उनकी जो मार्क्सवादी समझ है, पूरी तरह अजय सिंह उसे समझ नहीं पाए है वाल्मीकिजी भारतीय मार्क्सवादियों की तरह सिर्फ वर्ग तक ही अपने को सीमित नही करते, बल्कि वे 'वर्ण' तक भी जाते हैं। उसके अस्तित्व को स्वीकार करते है। उसे अपनी वैचारिकता एवं आन्दोलन

का प्रस्थानबिन्दू बनाते है। अजय सिंह को यह भी ध्यान रखना चाहिए था कि यदि वाल्मीकि जी 'वर्ग दृष्टिकोण' को ही आधार बनाते तब वे उन अपमानजनक अनुभवों का कतई उल्लेख नहीं करते जो अनुभव उन्हें आर्थिक एवं शैक्षणिक रूप से कुछ बेहतर होने के बाद भी प्राप्त हुए है। क्योंकि, वर्ग दृष्टिकोण के अनुसार उस समय वे मध्यवर्ग तक आ चुके थे। उसकी भौतिक स्थिति में परिवर्तन आ चुका था। बाल्मीकि जी की समस्या निम्न वर्ग, मध्य वर्ग या उच्च वर्ग के कारण नहीं है, बल्कि 'अछूत वर्ण' के कारण हैं।

वे वर्णजात दंश को सहते है न कि वर्ग के दंश को इसलिए अजय सिंह का 'जूठन' में वर्ग–दृष्टिकोण देखना, उसकी मुख्य संवेदना के साथ ज्यादती है।

जहाँ तक दलित आन्दोलन के प्रति आलोचनात्मक नज़रिया रखने की बात है, उस सम्बन्ध में हमने तीसरे अध्याय में ही स्पष्ट कर दिया है कि वह दलित आंदोलन का अंतर्विरोध नहीं, बल्कि [illegible] का अन्तर्विरोध है। अजय सिंह जी दलित आंदोलन की गहरी समझ रखने के बजाय, 'अखबारी समझ' रखने के कारण उसकी आलोचनात्मक पड़ताल नहीं कर पाए है, एवं वाल्मीकि जी की मान्यता को सही मान बैठे है। वस्तुतः वह अन्तर्विरोध दलित आन्दोलन का नहीं, बल्कि दलित जातियों का है, जो कि कमोवेश आज भी कायम है। उसके लिए कोई आंदोलन दोषी नहीं है।

संदर्भ

1. डॉ० श्यौराज सिंह बेचैन , जूठन अछूती सच्चाई का श्वेत पत्र है, युद्धरत आम आदमी अंक 40 पृ० 33
2. वही पृ० 40
3. वही पृ० 40
4. **कंवल भारती :** पीठ पर अंकित महाकाव्य, दूसरा शनिवार 12 अप्रैल 1997 पृ० 30
5. अजय सिंहः संघर्ष का वृतांत इंडिया टुडे 15 अक्टूबर 1997 पृ० 49
6. ओमप्रकाश वाल्मीकि , कब तक इन प्रश्नों से बचेगा मार्क्सवाद, हंस जून 1998 पृ० 49

शोधकर्ता की लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि से बातचीत

1 आपकी दृष्टि में दलित आत्मकथाओं की जरूरत क्या है? क्या इनको सिर्फ एक विधा के रूप में देखा जाए या इसके अलावा भी इनका कोई महत्व है?

लेखक दलित आत्मकथाएँ एक विधा भर नहीं बल्कि समाज व्यवस्था के उस घृणित पक्ष का दर्पण है जहाँ मानवीय संवेदनाएं शून्य है। मानवीय सरोकारों की कोई महत्ता नहीं हैं। आदमी के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता है, आदमी को उसके मौलिक अधिकारों से वंचित कर उसे नारकीय जीवन में रहने के लिये बाध्य किया जाता है। दलित समाज के यथार्थ चित्रण को प्रस्तुत करती ये आत्मकथाएँ बहुत ही सूक्ष्मता से उस जीवन की सच्चाइयों को उजागर करती हैं।

2 दलित समाज का कोई लिखित इतिहास नहीं है मौखिक रूप से ही एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सूचनाएँ प्रदान करती रही है। क्या ये आत्मकथाएँ दलित समाज के इतिहास निर्माण में सहायक हो सकती है?

लेखक ये आत्मकथाएँ इतिहास या अतीत का आकलन नहीं बल्कि दलितों के सांस्कृतिक, पारम्परिक और संघर्षमय जीवन के जीवंत दस्तावेज है। दलित जीवन से अनभिज्ञ तथाकथित सवर्ण समाज

इस नारकीय जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकता। इसलिये कभी इन्हें उपन्यास कहकर काल्पनिक करार दिया जाता हैं तो कभी इनकी प्रामाणिकता पर संदेह किया जाता है।

3 हिन्दी की अन्य आत्मकथाओं से दलित आत्मकथाओं के अलगाव के बिन्दु कौन–कौन से हैं?

लेखक दलित आत्मकथाएँ ज्यादा निर्भीकता और ईमानदारी के साथ लिखी गई आत्मकथाएँ हैं क्योंकि दलित लेखक को कुछ भी खो देने का भय नही है जबकि हिन्दी लेखक अपने आस पास के परिवेश से इतना भयभीत रहता है कि वह सब कुछ गोलमोल करके बयान करता है। एक और बिंदु जो बहुत ही महत्वपूर्ण है वह है इन आत्मकथाओं की सामाजिक प्रतिबद्धता का, जो हिंदी आत्मकथाओं में होती ही नही है। दलित आत्मकथाएँ सामाजिक जीवन की विसंगतियों के विरुद्ध खड़ी होकर बदलाव की ओर संकेत करती है।

4 दलित आत्मकथाओं में श्लील–अश्लील जो कुछ भी लिखा जा रहा है, वह सब दलित चेतना से किस प्रकार सम्बन्धित है?

लेखक जिसे आलोचक अश्लील कह रहे है वह प्रतिबिंब है उस व्यवस्था का जिसे दलित जीवन भर वहन करता है। बनावटी, दोहरे मापदंडों को जीने वाला व्यक्ति हर चीज़ को उसी तरह देखना चाहता है जैसा वह है। जबकि साहित्य में जीवन के यथार्थ को

पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त होना चाहिये। बनावटी जीवन जीने के आदी विद्वानों को दलितों की चीख तो सुनाई पड़ती ही नहीं उनकी आह भी उन्हें बनावटी और अश्लील लगती है।

5 हिन्दी एवं मराठी दलित आत्मकथाओं में परस्पर साम्य वैषम्य के मुख्य बिन्दु कौन– कौन से है।

लेखक पूरे भारत में दलितों का जीवन एक ही जैसा है इसलिये उनकी पीड़ाएँ उनके अनुभव भी तो एक ही जैसे होंगे, मराठी हो या हिन्दी दर्द एक ही है।

6 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं से यह पता नहीं लगाया जा सकता कि हिन्दी क्षेत्र में दलित चेतना पैदा होने के कारक तत्व कौन–कौन से है? क्यों?

लेखक यह प्रश्न ही कुछ भ्रम पैदा कर रहा है क्या 'जूठन' में आपको समाज व्यवस्था का वीभत्स उत्पीड़न दिखाई नहीं दिया, क्या यह उत्पीड़न दलित चेतना का कारक नहीं है?

7 दलित आत्मकथाएँ दलित सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण में किस तरह सहायक हो सकती है?

लेखक दलित आत्मकथाओं की भाषा, उनका कथ्य, शिल्प दलित सौन्दर्यशास्त्र के लिये भूमि तैयार कर रहा है।

8 दलित आत्मकथाओं के मूल्यांकन के प्रतिमान कौन कौन से होने चाहियें?

लेखक दलित आत्मकथाओं को समाजशास्त्रीय आलोचना के तहत देखा जाना चाहिये। साहित्य की मुख्य भूमिका क्या है? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है।इसके उत्तर में दलित आत्मकथाओं के प्रतिमान छिपे हैं।दलित आत्मकथाओं के मूल्यांकन के लिये पारम्परिक प्रतिमानों से भिन्न नये प्रतिमान ढूंढने होंगे जो समय सापेक्ष हों, समाज शास्त्रीय एवं दलित समाज में विद्यमान सांस्कृतिक पहलुओं को उजागर करके उन्हें प्रतिष्ठित करते हों।

9 हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में राजनीतिक चेतना लगभग नदारद है? ऐसा क्यों?

लेखक हिंन्दी की किसी आत्मकथा में राजनीतिक चेतना आपको दिखाई दी है? यदि नहीं तो पहले वहां उस कारण को खोजिये? कोई जरूरी नहीं दलित आत्मकथाएँ राजनीतिक उठापटक के इर्द–गिर्द घूमें। लेकिन दलित आत्मकथाओं में राजनीतिक चेतना के बिंदु बीज रूप में जरूर विद्यमान होते है जिसे पकड़ना आलोचकों का काम है या फिर जागरूक पाठक उसे पकड़ लेता है। 'इण्डिया टुडे' में छपी अजयसिंह की समीक्षा (जूठन) आप देख सकते हैं।

10 दलित चेतना के लिये संघर्ष एवं स्वाभिमान की अनिवार्यता की बात होती है। क्या यह स्वाभिमान कहीं–कहीं बनावटी या नाटकीय नहीं लगता?

लेखक उन लोगों को नाटकीय या बनावटी लगेगा ही जो दलितों से सिर्फ

भूखे रहने या जमीन में गड़े रहने की उम्मीद रखते हैं।

11 दलित आत्मकथाओं में प्रेमिका, माँ, बहन आदि का उल्लेख तो है लेकिन पत्नियों के योगदान का उल्लेख नहीं है। ऐसा क्यों?

लेखक इंतजार कीजिये अभी हिंदी में आत्मकथा आई ही कितनी है?

12 चलिए, अब हम अपने को जूठन पर केन्द्रित करते है। क्या आप इस आत्मकथा से संतुष्ट है या दूसरा खण्ड भी लिखने का इरादा है?

लेखक ऐसा बहुत कुछ है जो इस आत्मकथा में नहीं आ पाया है, कई कारणों से, जूठन के बाद लिखने का इरादा तो है, लेकिन कब पूरा होगा फिलहाल कहना मुश्किल है। क्योंकि, जीवन आसान नहीं है मेरे लिए। बहुत कुछ है जो मैं कहना चाहता हूँ... कहा नहीं जाता.....इसे आप मेरी मज़बूरी या असमर्थता कह सकते हैं।

13 अपने समाज में दलित चेतना के उभार की वजह, उसकी पृष्ठभूमि आप किसे मानते हैं?

लेखक समाज में दलित चेतना सुसुप्त अवस्था में थी। जो छोटी–छोटी प्रतिक्रियाओं, विरोधों में दिखायी पड़ती थी। लेकिन उसे सुव्यवस्थित रूप से दिशा नहीं मिल पा रही थी। मैं अपने पिताजी को देखता था। वे बहुत कुछ कह जाते थे। विरोध भी करते थे लेकिन बिखरा–बिखरा था सब कुछ। डॉ0 अम्बेडकर और ज्योतिबा फुले

के विषय में वे नहीं जानते थे। लेकिन जब हमारी पीढ़ी ने स्कूल कॉलेजों, में प्रवेश किया तो शिक्षा के माध्यम से ही वे यह समझ पाये कि दलित जीवन की जो पीड़ाएँ है, उनका संघर्ष है उसे डॉ० अम्बेडकर और ज्योतिबा फूले, बुद्ध से जोड़करसही दिशा मिल सकती है। और मिली भी है। जो परिवर्तन और संघर्ष की भावना पनपी है, उसकी प्रेरणा डॉ० अंबेडकर ही तो है। वे दलित चेतना के प्रेरणा श्रोत भी है और आदर्श भी।

14 इतनी मुसीबतों के बावजूद शिक्षा प्राप्ति के प्रति आपका जो आग्रह बना था, क्या उसका कोई प्रेरणाश्रोत भी है?

लेखक हाँ, मेरे पिताजी, जो बात–बात में कहते थे पढ़–लिख कर जाति सुधारो। जाति तो क्या सुधरनी थी, हाँ, पढ़ने लिखने की ओर मुड़कर ऐसा बहुत कुछ जान पाये जिससे अनभिज्ञ थे।

15 कक्षा में अश्वत्थामा के प्रसंग में प्रश्न करना। उतनी उम्र में यह कैसे अहसास हुआ कि महाकाव्यों में हमारे यह कुछ नहीं लिखा गया है?

लेखक जब का यह प्रसंग है तब मेरी आयु रही होगी लगभग 13-14 वर्ष। सामाजिक उत्पीड़न ने जो दंश दिये वे इतनी समझ तो पैदा कर ही देते हैं कि चीज़े साफ–साफ दिखने लगे। रही बात बौद्धिक स्तर की, मराठी कवि ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी 16 वर्ष की

आयु में रची गयी। तब यह प्रश्न नहीं उठा कि इतनी कम उम्र में 'अभंग' शैली में कैसे ऐसी कविता लिखी गई। मेरी तो मात्र जिज्ञासा थी। उस पर भी शंका?

16 शिक्षकों का बच्चों के साथ गाली–गलौच करना कितना स्वाभाविक है?

लेखक स्वाभाविक? यह तो सहज और सामान्य बात थी। जाति को ही जहाँ गाली की तरह प्रयोग में लाया जाता हो वहाँ हर चीज स्वाभाविक है। गाली देना तो आम बात है इस क्षेत्र में।

17 जूठन की प्रमुख घटनाएँ किस वर्ष तक लिखी गई है?

लेखक 'जूठन' में 1985 तक की घटनाओं को शामिल किया गया है। जुलाई 1985 में मेरा स्थानांतरण चन्द्रपुर (महाराष्ट्र) से देहरादून हुआ था। वहीं तक मैंने लिया है यानि मेरे बचपन से लेकर 35 वर्ष तक की घटनाएँ। 1950 में मेरा जन्म हुआ। बचपन मेंजो कुछ भोगा, सहा उसके चिन्ह् अभी तक मेरे अंतस में विद्यमान है। अंतस में ही नहीं शरीर पर भी विद्यमान हैं अश्वत्थामा वाली घटना के बाद जो महाकाव्य मेरी पीठ पर लिखा गया था, उसके निशान अभी मौजूद है।

18 डॉ0 अम्बेडकर के आन्दोलन का प्रचार–प्रसार अन्य दलित जातियों में कम हो पाया, इसकी वजह आप क्या मानते हैं?

लेखक इसकी प्रमुख वजह तो शिक्षा है, और दूसरी वजह वह व्यवस्था भी है जो अम्बेडकर का नाम सुनते ही बिदकती है। उसका तंत्र जाल इतना सशक्त है कि वहाँ सैंकड़ों अम्बेडकर खप जाये तब भी कुछ नहीं होगा। ज्यादा ही हुआ तो वे राम के चित्र के साथ अम्बेडकर का चित्र भी लगा देंगे, आपको झाँसा देने के लिए।

19 डॉ0 सुखबीर सिंह स्वयं दलित कवि थे, फिर भी आपका सरनेम हटाने के प्रति उनका आग्रह क्यों था?

लेखक इसका उत्तर तो वे ही दे सकते थे लेकिन अफसोस वे अब नहीं है। इसलिए मैं इस विषय में कुछ कह नहीं पाऊँगा।

20 आपकी दृष्टि में किसी लेखक के व्यावहारिक जीवन एवं बौद्धिक जीवन में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए?

लेखक दोनों में एकरूपता होनी चाहिए। हिन्दी में लेखक, बुद्धिजीवी दोहरे जीवन जीते हैं। घर में कुछ और, बाहर कुछ और। यही कारण है कि मार्क्सवादी समीक्षक भी तुलसीदास की 'रामचरितमानस' पर कोई विपरीत टिप्पणी नहीं कर पाते है, क्योंकि वहाँ उनके वर्गहित ही नहीं वर्णहित भी जुड़े हैं।

21 सामाजिक परिवर्तन के लिए क्या सिर्फ दलित साहित्य ही पर्याप्त है या दलित साहित्यकारों को अन्य मोर्चों पर भी सक्रिय होना चाहिए?

लेखक साहित्य मात्र से परिवर्तन की उम्मीद करना काफी नहीं। सामाजिक बदलाव के लिए लेखक को आन्दोलन से भी जुड़ना होगा। जन सामान्य के बीच जाकर उनके संघर्ष में साथ खड़ा होना होगा, तभी वह साहित्यिक उत्तरदायित्व को भी ठीक से समझ सकता है और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी। समाज के संघर्ष में कंधे से कंधा मिलाकर चलने से ही साहित्य अपनी ऊर्जा का सही इस्तेमाल कर सकता है। कॉफी हाऊसों और राजधानी के वातानुकूलित कमरों में बैठकर समाज की पीड़ा पर बहसें करना और साहित्य लिखना दोनों को मैं अय्याशी मानता हूँ। दलित लेखकों को सामाजिक जीवन में भी सक्रिय होना होगा तभी वे बदलाव के लिए कुछ सार्थक कार्य कर सकते हैं।

22 इन आत्मकथाओं में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अमानवीय शोषण का तो उल्लेख है लेकिन आत्मकथाकारों द्वारा इसके सक्रिय प्रतिरोध का उल्लेख कम है। इस पर आपकी क्या राय है?

लेखक नहीं ऐसा नहीं है। सक्रिय उल्लेख का अर्थ यह नही है कि लेखक लेख में नारे बाजी करे। आत्मकथा लिखना ही उस व्यवस्था का विरोध करना है। यह सक्रिय नहीं तो और क्या है? सक्रियता के भी अलग–अलग आयाम होते है। सड़क पर उतरकर जुलूस निकालना या भीड़ इकट्ठी करके भाषण देना ही सक्रियता नहीं है, बदलाव के लिए भूमि तैयार करना भी तो सक्रियता ही है। मैं

समझता हूँ आत्मकथाएँ दलित आंदोलन को ऊर्जा देती है।

23 हिन्दी क्षेत्र में दलितों के बीच सामाजिक आंदोलन न होने या कम होने की वजह क्या है? जबकि ब्राह्मणवाद की पकड़ यहाँ भी मज़बूत हैं।

लेखक हिन्दी क्षेत्र में दलितों के ही नहीं गैर दलितों में भी सामाजिक आंदोलन नही के बराबर है। यहाँ परंपरा ही नहीं थी। दलितों में सामाजिक आंदोलन की सुगबुगाहट हो रही है। लोग जागरूक हो रहे है। जैस–जैसे शिक्षा का प्रसार बढ़ेगा दलित आंदोलन भी तीव्र होगा। चेतना का विस्तार होगा।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. कांबले, बेबी — जीवन हमारा (अनु0 ललिता अस्थाना) किताब घर, नई दिल्ली— 1995

2. काले किशोर शांताबाई— छोरा कोलहाटी का (अनु. अरुंधती देवस्थले) राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली— 1997

3. कार्ल मार्क्स — भारत सम्बन्धी लेख (अनु. ओमप्रकाश संगल) पीपुल्स, पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली—1993

4. गायकवाड़ लक्ष्मण — उठाईगीर (अनु0 सूर्य नारायण रणसुभे) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली—1992

5. खरात, शंकरराव — तराल—अंतराल (अनु0 डॉ0 केशव प्रथमवीर) नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली 1987

6. पवार, दया — अछूत (अनु. दामोदर खडसे)राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, (पेपर बैक्स) 1998

7. प्रसाद, चन्द्रभान — विश्वास घात (अनु. दिनेश 'राम') डी0 एस0 ए0 प्रकाशन, नई दिल्ली— 1996

8. माने, लक्ष्मण — पराया (अनु. दामोदर खडसे) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली— 1997

9. मिश्र गोबिन्द — साहित्य का संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली—1985)

10. कर्दम, जयप्रकाश — दलित साहित्य 1999, नई दिल्ली

11. दिनकर, डॉ. रामधारी सिंह— संस्कृति के चार अध्याय

12. नैमिशराय मोहनदास — अपने अपने पिंजरे वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली— 1996

13. लिंबाले शरण कुमार — अक्करमाशी (अनु0 सूर्यनारायण रणसुभे) ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली— 1991

14. वाल्मीकि ओमप्रकाश — जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

— बस्स! बहुत हो चुका— वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997,

- सदियों का संताप— फिलहाल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989

15. सोन कांबले, प्र. ई. — यादों के पंक्षी, (अनु. सूर्यनारायण रणसुभे) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983

पत्र-पत्रिकाएँ

1. अंगुत्तर — सं0 विमल कीर्ति, नागपुर, अप्रैल, मई, जून 1996
2. इंडिया टुडे — सं0 प्रभु चावला, नई दिल्ली 15 अक्टूबर 1997
3. कल के लिए — सं0 डॉ जयनारायण, बहराईच (उ0 प्र0) (दलित साहित्य विशेषांक) दिसम्बर 1998
4. दूसरा शनिवार — सं0 राजकिशोर, नई दिल्ली 12 अप्रैल 1997
5. नया पथ — सं0 शिवकुमार मिश्र, नई दिल्ली, जनवरी 1998
6. युद्धरत आम आदमी — सं0 रमणिका गुप्ता, हजारी बाग अंक — 40, अक्टू, सित0 1997
7. संचेतना — सं0 महीप सिंह, नई दिल्ली मराठी दलित साहित्य, विशेषांक, दिसम्बर 1981
8. सम्भव — सं0 सुभाष शर्मा, नई दिल्ली, अंक 15, मार्च 1996
9. हंस — सं0 राजेन्द्र यादव, नई दिल्ली मार्च 1994, नवम्बर 1995, मार्च 1998, जून 1998, मई 1999

सहायक पुस्तकें

1. डॉ0 कमलेश सिंह — हिन्दी आत्मकथा, स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिकेशन हाऊस, नई दिल्ली– 1989

2. डॉ. कमलापति उपाध्याय — हिन्दी आत्मकथा का शैलीगत अध्ययन — साहित्य रत्नालय, कानपुर 1992

3. डॉ0 जगदीश सिंह राठौर — दलित युवाओं के परिवर्ती दृष्टिकोण — सुमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

4. डॉ0 धर्मवीर — डॉ0 अम्बेडकर और दलित आंदोलन, शेष साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली–1990

5. एन. सिंह — दलित साहित्य– चिंतन के विविध आयाम, आम प्रकाशन, बंबई 1996

6. डॉ0 पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी — दलित साहित्य रचना और विचार, अतिश प्रकाशन, दिल्ली– १६६७

   दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, कंचन प्रकाशन, दिल्ली– १६६६

7. बलवंत साधू जाघव — प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना, अलका प्रकाशन कानपुर, 1992

8. भगवत शरण उपाध्याय — खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली– 1995

9. एम0 एन0 श्रीनिवास — आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध— म0 प्र0, हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल— 1992

10. माता प्रसाद — हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1993

11. डॉ0 मु0 ब0 शहा — महात्मा ज्योबा फुले, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली— 1998

12. रामशरण शर्मा — शूद्रों का प्राचीन इतिहास; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली—1992

13. राजकिशोर (सं0) — हरिजन से दलित— वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली— 1995

14. विमल थोरात — मराठी दलित कविता और साठोतरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना, हिन्दी बुक सैंटर, नई दिल्ली— 1996

15. शरण कुमार लिंबाले — देवता आदमी, अनु0 निशिकांत ठकार, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली— 1996

16. डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन — हिन्दी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव; समता प्रकाशन, नई दिल्ली—1998

17. एस0 एल0 सागर — ब्राह्मणवाद क्या है ? सागर प्रकाशन, मैनपुरी, 1994

पत्र-पत्रिकाएँ

1. समकालीन सृजन (जातिवाद और रंग भेद)

   सं0 शंभुनाथ, भारतीय साहित्य संस्थान, कलकत्ता, 1990

2. पश्यंती (दलित साहित्य विशेषांक) अप्रैल जून, 1998

   सं0 प्रणव कुमार, बंधोपाध्याय, रामशरण जोशी

3. युद्धरत आम आदमी (दलित चेतना – साहित्य)

   सं0 रमणिका गुप्ता – नवलेखन प्रकाशन हजारीबाग, अप्रैल सितंबर 1996

   दलित चेतना– सोच, अक्टूबर, दिसम्बर 1996

4. भारत अश्वघोष – सं0 डॉ0 तुलसीराम नागपुर